सर्वाधिकार सुरक्षित

सहजानन्द शास्त्र माला

प्रवचनसार प्रवचन प्रथम भाग

प्रवक्ता

अध्यात्म योगी न्याय तीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी

"श्री मत्सहजानन्द" महाराज

(ि स यपुर ि र स ा ा ा टकराया था

प्रकाशक

मंत्री श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

१०८ पुलिस स्ट्रीट मेरठ सदर [उ.प्र.]

है ११००]प्रत्येक आना प्रति रुपया कमीशन व ४ प्रति [च

[द ४८] खरीदने पर एक प्रति भी नि ना मूल्य [ति ।

श्री सन्मार्ग शास्त्रमाला के प्रकाशन की शुभ नामावली निम्न प्रकार है —

१ श्रीमान ला० महावीर प्रसादजी जैन रईस सदर मेरठ	२००१)
,, भिखमल जी नाहर सिंह जी जैन मुजफ्फरनगर	१००१)
,, प्रेमचन्द जी श्यामसुन्दर जी जैन रईस मेरठ	१००१)
, सवेरचन्द जी लालचन्द जी मुजफ्फरनगर	११०१)
,, ह्रासचन्द जी जैन रईस देहरादून	१००१)
,, दीपचन्द जी जैन रईस देहरादून	१००१)
,, बालकराम जी प्रेमचन्द जी जैन मसूरी	११०१)
,, नानूराम जी मुरारीलाल जी जैन ज्वालापुर	१००१)
केवलराम जी उग्रसैन जी जगाधरी	१००१)
,, गैंदामल जी दगडूसाह जी जैन मनमाड	१००१)
,, मुकन्दलाल जी गुलशनराय जैन नईमन्डी मु०	१००१)
,, फूलचन्द जी जैन देहरादून	१००१)
,, शीतल प्रसाद जी जैन मेरठ सदर	१००१)
,, सुखदेव सिंह जी हेमचन्द जी सर्राफ बड़ौत	१००१)
,, नानकराम जी ज्ञानप्रकाश जी जैन रईस सिरसा	१००१)
,, जयकुमार वीरसैन जी सर्राफ मेरठ	१०००)
,, फूलचन्द बैजनाथ जी मुजफ्फरनगर	१०००)
,, सेठ नेमीचन्द जी ताराचन्द जी गंगवाल्या जयपुर	१००१)
, सेठ मथुरादास जी जैन कुचामन	१०००)
, बा० दयाराम जी जैन S D O मेरठ सदर	१०००)
, मुन्नालाल यादवराय जी मेरठ सदर	१०००)
, नित्यानन्द जी श्रीपाल जी जैन शिमला	१००१)
,, , कन्हैयालाल जी निरंजनलाल जी शिमला	१००१)

नोट—जिनके कुछ रुपये आये हैं उनके पहले ऐसा निशान अंकित है। ×इनके रुपये नहीं आये हैं। और सब के रुपये आये हैं

यत्किञ्चित्

प्रिय पाठक वृन्द ! आज आपके सामने यह प्रवचन ग्रन्थ आ रहा है। इसमें प्रवचनसार ग्रन्थ राज की ७४ गाथाओं पर प्रवचन है जिसे श्री जैन समाज जयपुर ने महाराज श्री के वर्षा योग सन् १६५२ में नोट कराये थे। इसमें उपयोग के प्रकारों का विशिष्ट विवेचन है। इसके विषय में अधिक क्या कहें ? पाठक वृन्द पढ़ कर स्वयं अपना आनन्द पावेंगे। इसके मंगलाचरण की ५ गाथाओं के प्रवचन भी अपूर्व क्रान्ति उत्पन्न करते हैं।

इन प्रवचनों की प्राप्ति जयपुर जैन समाज के परिश्रम से हुई है। अतएव हम जयपुर समाज के आभारी हैं।

समाजसेवक

उपाध्यक्ष — महावीर सावन १६६९

श्री [illegible] शास्त्रमाल — मेरठ सदर

मेरठ शहर

आत्मकीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी

"श्रीमत्सहजानन्द" महाराज द्वारा विरचित

—०★०—

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेर॥

१

मैं वह हूँ जो हैं भगवान। जो मैं हूँ वह हैं भगवान ॥
अन्तर यही ऊपरी जान। वे विराग यह रागवितान ॥

२

मम स्वरूप है सिद्ध समान। अमितशक्तिसुखज्ञाननिधान ॥
किन्तु आशावश खोया ज्ञान। बना भिखारी निपट अजान ॥

३

सुख-दुख दाता कोई न आन। मोह राग रुष दुखकी खान ॥
निजको निज परको पर जान। फिर दुख का नहिं लेश निदान ॥

४

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम। विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ॥
राग त्यागि पहुँचू निजधाम। आकुलता का फिर क्या काम ॥

५

होता स्वयं जगत परिणाम। मैं जग का करता क्या काम ॥
दूर हटो परकृत परिणाम। 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ॥

अध्यात्म योगी शान्तिमूर्ति पूज्य श्री १०५ क्षु० गुरुवर्य्य
सत सहजानन्दजी वर्णी का

※ प्रवचनसार पर प्रवचन ※

ज्ञानाधिकार

सवव्याप्येक चिद्रूप स्वरूपाय परात्मने ।
स्वोपलब्धि प्रसिद्धाय ज्ञानानदात्मने नम ॥

यह प्रवचनसार कुन्दकुन्द रचित है । भगवान कुन्दकुन्दने बालावस्थामें मुनिपदको धारण किया और निज ज्ञायकरूप आत्माके अनुभवमें अपना जीवन व्यतीत किया । उनके ग्रन्थ समयसार, नियमसार और प्रवचनसार सभीमें अध्यात्मध्वनि है । उनके सवग्रन्थोका उद्देश्य अध्यात्मिक ज्ञानभावकी पुष्टि करना है ।

जब हम कुन्दकुन्दाचार्यके वचनपर दृष्टिपात करते हैं तो ज्ञात होता है कि जन्मकालसे ही उनमें अध्यात्मभावोके सस्कार भरे हुए थे । जब वे निरे बच्चे थे तब उनकी माता उन्हें पालने में सुलाकर ये लोरिया गाया करती थी —

शुद्धोऽसिबुद्धोऽसिनिरजनोऽसि ससारमायापरिवर्जितोऽसि।

ससारस्वप्न त्यज मोहनिद्रा श्रीकुदकुद जननीदमूचे ॥

अर्थात् श्री कुन्दकुन्दकी माता बचपनमें पालनेमें झुलाती हुई कुन्दकुदसे कहती है कि हे बालक आत्मन् ! तू शुद्ध है, समस्त परद्रव्य, पर क्षेत्र, परकाल एव पर भावोसे रहित है। तू बुद्ध है ज्ञानमय है, निरजन है, द्रव्यकर्म भावकर्मसे रहित है, ससारकी अतरग बहिरग रूप मायासे परि-वर्जित है। ससारके स्वप्न, रागद्वेषादि प्रवृत्तिया और मोहिनीनिद्रा-अज्ञान भाव दोनो को छोडो। बार बार इस ही व ऐसे ही गीतोकी बचपनसे ही सुनने वाले कुन्द कुन्द ज्यो ज्यो बढ़ते गये उनकी ज्ञानकला दोजके चद्रमाकी तरह विकसित होती गई। वे ११ वर्ष की आयु में पूर्ण विरक्त महाव्रती साधू हो गये। उन्होने अध्यात्म का पूर्ण मनन किया, आगम युक्ति के पूर्ण विद्वान हुए, गुरुपरम्परागत उपदेशा-मृतो का पान किया तथा स्वानुभवसे ही निज ब्रह्म-भावका साक्षात्कार किया था। उन्हीं श्री कुन्दकुन्दा-चार्य द्वारा रचित प्रवचनसारकी तत्वप्रदीपिका नाम की टीकाके रचयिता उत्कृष्ट अध्यात्मयोगी पूज्य श्री १०८ अमृतचन्द्राचार्य का यह प्रारम्भिक मगलाचरण है।

सर्वव्याप्येकचिद्रूपस्वरूपाय परात्मने।

स्वोपलब्धिप्रसिद्धाय ज्ञानानदात्मने नम ॥

मगलाचरण शब्दका अर्थ है "म पाप गालयतीति मगल अथवा मग सुख लाति इति मगलम् तस्य आचरण प्रकटीकरण कथन तदनुकूलतया प्रवतन वा मगलम्" जो पाप को नष्ट करे अथवा सुख को प्राप्त करावे ऐसे परिणाम का प्रकट करना व उसके अनुसार प्रवतन करना सो मगलाचरण है।

यद्यपि भगवत्प्रणीत परमागमका एक एक शब्द मगल है तथापि जिनके मूलसे परम्परागत जिनसूत्रके निमित्तसे हो सातिशय अलौकिक अनुपम ज्योति जिन्हे प्राप्त हुई उन्हे इस निभूनिवेचणाके समय उन प्रभूका उस परमात्मभाव का बहुमान आये बिना रहता नहीं है इसी भाव के प्रतिफल स्वरूप उत्पन्न हुए योगके निमित्त से श्री सूरिजी के मुखकमलसे प्रथम ही प्रथम जो वचन सौरभ विकसित हुआ वह मगलाचरण ही है।

इस मगलाचरणमें परमात्माको नमस्कार किया है। परात्मा पर अर्थात् उत्कृष्ट आत्मा। इसे ही परात्मा, शुद्ध आत्मा आदि कहते हैं। परात्मा कैसे है ? सर्वव्याप्येकचिद्रूपस्वरूपाय सव द्रव्योमें, सर्व क्षेत्रोंमें, सव कालोमें, सव भावोमें, व्यापी है। फिर

भी एक चैतन्य स्वरूप है। यहा ये दोनो विशेषण भावकी अपेक्षासे है और दूसरा विशेषण भावको त्रैकालिक सामान्य स्वरूपकी अपेक्षासे है। शुद्धात्मा सर्वज्ञ ज्ञानभाव का निज ज्ञेयाकार स्वरूप से व्यापक है। जहा यह वर्णन आता है कि प्रभु अपने आत्मप्रदेशोंमें रहते हुए समस्त विश्वको जानते है वहा ज्ञानकी अपेक्षा तो सर्वज्ञता कह दी है परन्तु क्षेत्र की अपेक्षा करके सयुक्त दृष्टी बनाई गई है। व्याकरण शास्त्रमें जो धातुएँ जाननेके अर्थमें हैं वे धातुएँ गमनके अर्थ में भी है। जिससे यह सामजस्य बठता है कि जानना गतिरूपक होता है। व्यवहार में भी कहते है कि मेरा ज्ञान इस सारे कमरे में है। यहा भी केवल भावकी अपेक्षा विचारो कि ज्ञानका जो स्वरूप है साधारणतया अनुपयुक्त करके उसका विशेष की दृष्टी से क्या उत्तर होगा इसका जो उत्तर होगा वह आत्मप्रदेशो की परक्षेत्र गत सकुचितता की प्रतिष्ठा न करेगा। परमात्मा सर्वद्रव्य, उनके सर्वगुण, उनकी सर्वपर्यायें, समस्त अविभाग अश, सबको एक समयमें जानते है। प्रत्येक आत्माओंका प्रधान लक्षण ज्ञान है। ज्ञान गुणके द्वारा आत्मा लक्षित है तब परमात्मा भी ज्ञान गुण

के द्वारा लक्षित होते हैं। वह ज्ञान भावकी दृष्टी से सर्वविश्वरूप है अत सदव्यापी है। फिर भी एक चैतन्य स्वरूपमय है। ये दोनो बात सामान्य विशेष भावकी अपेक्षासे है। वस्तु सामान्य विशेषात्मक होती है और गुण भी सामान्य विशेषात्मक होते है। गुणका विशेष रूप पर्यायसंज्ञित है परन्तु कोई भी पर्याय उस समय गुणसे भिन्न नहीं है और गुणपर्याय द्रव्यसे भिन्न नहीं है।

चित्स्वरूप तो आत्माका सर्वस्व है। कितने ही लोग बुद्धिगत ज्ञानको उत्पन्न विनष्ट देखकर उस ज्ञानसे रहित आत्माकी स्थिति समझ कर आत्मा को अचेतन अज्ञानी कह देते हैं और ज्ञानके समवाय संबधसे चेतन ज्ञानी कहते हैं। परन्तु यह तो विचारो कि आत्माके स्वभावमें जब चैतन्य ही नहीं तब समवायसंबध से चैतन्य आ भी जावो फिर भी समवायसंबधके बिना अथवा चैतन्य स्वभावके बिना आत्मा वस्तु भी क्या है? चित तो आत्मा का अविश्वग्भावमय धर्म है, प्राण है। तथा जब चेतना है तो उसका परिणमन कार्य भी निरंतर है। उसका कार्य है प्रतिभास। साराश यह है कि आत्मा चैतन्यमय ज्ञानदर्शनमय है तथा शुद्ध ज्ञान सर्वज्ञ है

शुद्ध दर्शन सर्वदर्शी है। जब हम ऐसी छद्मस्थ अल्पज्ञान इन्द्रिय दशामें भी इतना सब कुछ जान लेते हैं तब जहां ज्ञानके आवरक कर्मका, आवरक नोकर्मका सर्वथा अभाव हो गया उनका ज्ञान सर्वव्यापी न हो ? हम लोगोंके ज्ञान से भी गया बीता ज्ञान हो ऐसा नहीं। सीमायें अशुद्धावस्थामें होती है। शुद्धावस्थामें गुण असीमपर्यायी होता है। भगवान परमात्मा तो सर्वव्यापी व एक चिद्रूप हैं, स्वरूप है, ऐसे परमात्माको नमस्कार हो।

अब दूसरा विशेषण कहते हैं 'स्वोपलब्धिप्रसिद्धाय' परमात्मा स्व कीउपलब्धिसे प्रसिद्ध है। स्वकी उपलब्धि चरमसिद्धिको प्राप्त आत्मसिद्धि वाले हैं। वास्तवमें सिद्धपर्याय शुद्धपर्याय स्वकी उपलब्धिका परिणाम है। स्वकी उपलब्धिसे विकसित है। यहां स्वका अर्थ है निर्विकल्प अनाद्यनतस्थायी सामान्य स्वरूप कारणशुद्धपरमात्मा या कारण समयसार अर्थात परमपारिणामिक भाव। शुद्धावस्थारूप मोक्षतत्व की प्राप्ति किस उपायसे होती है ? इस बात का वर्णन इस दूसरे विशेषण में है।

जीवके निज तत्त्व ५ माने गये हैं। १ औप-शमिक भाव, २ क्षायिक भाव, ३ क्षायोपशमिक भाव,

४ औदयिक भाव, ५ पारिणामिक भाव। इनमें से आदि के ४ अर्थात औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक तो पर्याय रूप हैं और परिणामिक भाव जिसके कि २ प्रकार हैं ? शुद्ध पारिणामिक २ अशुद्ध पारिणामिक। परम पारिणामिक तो एक ही प्रकार है। ज्ञानदर्शन चेतनामय शुद्धजीवत्वरूप है किन्तु अशुद्धजीवत्व अशुद्धपारिणामिक भाव के ३ भेद हैं। १ दशप्राण जीवनरूप २ भव्यत्व ३ अभव्यत्व। पारिणामिक भावों में से परम परिणामिक भाव शुद्धद्रव्य रूप है। शेष के ३ अशुद्धद्रव्यरूप है व पर्यायार्थिकनयरूप है। अब यहाँ जो पर्याय रूप है सो तो कार्य है और शुद्धपारिणामिक भाव बंधमोक्षरहित है। किन्तु जो शुद्ध पारिणामिकभावरूप चैतन्य भावकी भावना रूप परिणति है वह शुद्धोपयोगका साधन उपाय है। वह औपशमिक, क्षायिक क्षयोपशमिक भाव रूप है। कथन का साराश यह है कि प्रभु परमपारिणामिकभाव स्वरूप स्वकी उपलब्धि से प्रसिद्ध हुए हैं।

अहो देखो तो कल्याण का मूल स्रोत यहीं तो है, इसे ही न जानकर अज्ञानीके यह तत्व पासमें होनेपर भी अत्यत दूर हो गया है। ज्ञानी होनेपर

हो पता लगता है कि अरे यही तो सुखपूर्ण तत्त्व था अनन्तकाल व्यर्थ भटका।

भैया ! वैराग्य प्रकाश में एक कथा लिखी है "एक गृहस्थ साधुके दर्शनको जंगल में गया, साधु ने उसे बताया कि एक ब्रह्म ही तत्व है अन्य सर्व माया है, अस्थिर है।" उसे उपदेश रुचिकर हुआ और आगे जाननेकी इच्छा हुई और पूछा तब साधु बोले अधिक विशेष जानना हो तो किसी पंडितजीसे पढो। वह कहीं पंडितजीसे पढने लगा और इसके एवज में पंडितजीके आदेशानुसार उनकी गौशाला में गोबर थापनेकी सेवा करने लगा। १२ वर्ष तक पढा अन्तमें तत्त्व बताया यही। तब उसे खेद हुआ कि यह तत्त्व तो साधुसे ही जान गया था यही तो तत्व है बारह वर्ष व्यर्थ गोबर उठाया। भाई कितना ही भ्रमण करे सुखकी खोज करे क्या होता है। सुख तो यही परिणामिक भावके उपयोगमें है। यही है, अन्य सारा भ्रमण व्यर्थ है।

इसलिये जैसे ज्ञानानंदात्मक परमात्मा है वैसे ही मैं भी स्वभावसे हो ज्ञानानन्दात्मक हूं, जिनके ज्ञान और आनन्द पूर्ण व्यक्त है ऐसे परमात्मा के लक्ष्य द्वारा निज ज्ञानानंदात्मक चैतन्य भगवान

की भावना रूप, परिणति रूप, अद्वैत भावको नमस्कार हो।

परमात्माको नमस्कार करके अब अनेकान्तमय तेज अर्थात ज्ञानदात्री सरस्वतीको जयवाद रूप नमस्कार करते हैं—

"हेलोल्लुप्तमहामोहतमस्तोमं जयत्यदः।
प्रकाशयज्जगत्तत्वमनेकान्तमयं महः ॥ २ ॥"

"लीलामात्रमें ही नष्ट कर दिया है महान् मोहरूप अन्धकारके समूहको जिसने तथा समस्त तत्वोंको प्रकाशमान करने वाले अनेकान्तमय तेज प्रतिदिन जयवन्त रहे।" चैतन्यस्वरूप स्वयं अनेकान्तरूप है एवं प्रतिभासस्वरूप होनेसे तेज रूप कहलाता है। इस चैतन्यस्वरूप ही का नाम सरस्वती है। सरस्वतीकी शाब्दिक व्युत्पत्ति है—"सरः प्रसरणं यस्या सा सरस्वती" अर्थात् जिसका ज्ञान प्रसार होता है, वह सरस्वती विशुद्ध चैतन्य परिणति ही है। सब वस्तुएँ अनेकान्तात्मक हैं, वह चैतन्य भगवान भी अनेकान्तात्मक है। यह अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भावकी अपेक्षासे है, परन्तु परके द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भावकी अपेक्षासे नहीं है। समस्त वस्तुएँ तथा यह चैतन्य परिणति द्रव्य दृष्टिसे नित्य

अविनाशी है और पर्यायदृष्टिसे अनित्य है। त्रिकाल एक स्वरूपकी अपेक्षासे एक है प्रत्येक पर्याय अथवा प्रत्येक भावो की अपेक्षासे अनेक है। इस प्रकार द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व व एव वस्तुत्वादि अनन्त धर्मोसे यह विशुद्ध चैतन्य परिणति युक्त है। इस चैतन्य भगवानका प्रधान एव असाधारण गुण जो स्वरूप सर्वस्व है वह भी अनेकान्तमय है। हम इसे इस प्रकार भी कह सकते है कि "न एक अपि अन्त धर्म यत्र स अनेकान्त" अर्थात जहा एक भी धर्म न हो, उसे कहते है अनेकान्त। आत्मवस्तुके गुणोके अभेद रूप अखण्ड अनुभवमें आनेपर वह अनुभवात्मक चैतन्य तेज पृथक्-पृथक धर्मोकी दृष्टिसे रहित होता है, उस अनुभवको अनेकान्तमय तेज कहते है। एक वस्तुमें परिगणित कुछ धर्मोके सद्भावकी कल्पना करना अयार है क्योकि यदि वस्तुको विविध विशेष दृष्टियोसे देखा जाय तो उसमें अनेक अनन्त गुण प्रमाणित होते है, तथा यदि सामान्य दृष्टिसे देखा जाय तो वह एक अखण्ड वस्तु प्रतिभासित होकर भी अन्यकी तो बात क्या ? उस ही एकके विकल्प रहित अनुभवमें आती है।

परम पूज्य भगवत अर्हद्देव की दिव्य ध्वनि को

परम्परासे आगत यह परमागम स्याद्वादपूर्वक वस्तुतत्त्व का निर्णय करेगा। वह निर्णय वस्तुत स्वकीय विशुद्ध चैतन्यमय परिणतिके अनेकान्त मय तेजसे होगा। इसी कारण प्रात स्मरणीय पूज्य स्वामी श्री अमृतचन्द्राचार्यजी टीका प्रारम्भ करने के पूर्व ही अनेकान्तमय तेजका स्मरण करते हैं। अनेकान्तमय वस्तुको प्रकट करनेवाला वाङ्मय भी अनेकान्तमय है। अत उक्त श्लोक में सरस्वती एव जिनवाणी माताको भी नमस्कार किया गया है ऐसा ध्वनित है। सरस्वती तो भावरूप निगम और आगम है तथा जिनवाणी है शब्द रूप आगम। जो लिपिगत व श्रवणगत है वह जिनवाणी है और जो ज्ञानगत एव अनुभवगत भाव है वह सरस्ती है। लौकिकजन सरोवर में कमलके ऊपर हसके समीप बैठी हुई चतुभुजाके रूप में, सरस्वती का रूपक बाधते है तथा उन चतुभुजाओंमें माला, पुस्तक, वीणा एव शखकी कल्पना करते है। यह कल्पना कल्पना ही है, यदि हमने उसके रहस्य व लक्ष्य पर दृष्टिपात न किया। वह रूपक जिनवाणी व चैतन्य स्वरूप के विकास का उपाय आदि अनेक समुचित तत्त्वोपर प्रकाश डालता है।

"तालाबकी कल्पनाका भाव प्रसरणसे है। चैतन्य-प्रसार की अनुभूति सरस्वतीका आवास है। सरस्वती परमागमरूप है, परमागम विशुद्ध हृदयरूप कमलमें ही विलास पा सकता। परमागम चार अनुयोग रूप है। यही अनुयोग परमागम की चतुर्भुजाएँ हैं— (१) प्रथमानुयोग (२) करणानुयोग (३) चरणानुयोग एव (४) द्रव्यानुयोग। निमलचित्तरूप भव्य हस परमागमका आराध है। यह भव्य ही अपनी रुचिपूर्ण दृष्टिसे सरस्वतीका अन्तर्वाह्य दर्शन करता है। सरस्वती की भुजाओंमें स्थित वस्तुएँ परमागमके फल प्रवेशके उपाय दर्शाती है। सरस्वतीके करमें स्थित माला यह प्रगट करती कि अनेक भव्य प्राणी ध्यानद्वारा चैतन्य तत्त्वकी प्राप्ति करते है। अनेक भव्य पुस्तक अर्थात स्वाध्यायसे चैतन्य पोषणमें प्रयत्नशील होते हैं। अनेक भव्य वीणाकी सुमधुर ध्वनिसे प्रसारित आत्मविकासी भजनोसे निजात्मिक हृदतन्त्रीपर स्वयको स्वयके कल्याणार्थ अन्य सासरिक पर पदार्थोसे विमुख होकर स्वयमें लीन होने के लिये जिन तत्त्व स्वरूप आत्माके गीत गाते है तथा कितनेही अनाहत ध्वनि से पुरस्कृत करके तत्त्वकी आराधना करते है। निजचैतन्य तत्त्व की पोषिका जिनवाणी

सरस्वती सदा जयवन्त रहे और इसके द्वारा प्राप्य परमलक्ष्य भूत अनेकान्तमय तेज सदा जयवन्त रहे। यहा भावरूप देवता होनेसे जयवाद रूप नमस्कार किया गया है।

अब अनेकान्तमय तेजके विशेषण विशदरीत्या कहे जाते है — वह अनेकान्तमय चित्प्रकाश "हेलोल्लुप्तमहामोहतमस्तोम" अर्थात लीलामात्र में ही महान् मोहान्धकार वितानको लुप्त करने वाला है। समर्थको किसी भी कार्यमें विशेष परिश्रम नहीं करना पडता उसे सब क्रियाएँ साधारण ही प्रतीत होती है। उसकी जैसे ही चैतन्य तत्त्वकी ओर दृष्टि केन्द्रित हुई कि अनन्तससार, निविड मोहान्धकार पूर्णरूपेण विलीन हो जाता है, नष्ट हो जाता है। जब तक जीवकी पर्यायबुद्धि रहती है तबतक अनाद्यनन्त, स्वसहाय, अखण्ड चैतन्यमय निजतत्त्वपर दृष्टि नहीं होती। निज शुद्ध चैतन्यतत्त्व, जो दूध में घी की भाँति प्रति समय विद्यमान है, अव्यक्त है परन्तु है ज्ञानगम्य, ज्ञानमें प्रतिभासित होते ही अनन्तानुबन्धी भाव नष्ट हो जाता है। देखो ! इस चेतनभगवानका विलास ! यह चेतन द्रव्य एक है अखण्ड है पुनरपि बहुप्रदेशी है। यह असख्यात प्रदेशी होने पर भी एक एक अश

प्रदेशी है और अमूर्तिक है तथा सब द्रव्योंके परिणमन में निमित्त भूत है। इन समस्त द्रव्यों के परिज्ञानका फल है, सब पर द्रव्यों से, पर क्षेत्रों से, पर पर्यायों से पर भावों से भिन्न, मात्र निज चैतन्यमय वस्तुका अवलोकन करना।

कितने ही मनुष्य इसी परम ब्रह्म का लक्ष्य करना चाहते हैं किन्तु संकुचित बुद्धिगत कुछ ही धर्मोंका व एक धर्मकी ही प्ररूपणा की मान्यता करके मूलतत्त्व को खंडना करते हैं, किन्तु भाई! यथार्थ पूर्ण अखंड अनेकान्तमय अभेद वस्तुके अनुभव बिना आनन्द समाधान रूप स्थायी सत्य नहीं हो पाता।

कभी बुद्धिकी यह दिशा हो जाती है कि सर्व जगत कल्पना मात्र है, केवल ज्ञान तत्त्व ही है, ज्ञान की ही ये सब दृष्टिगत वस्तुएं विवर्त हैं, अतः माया-रूप है। परन्तु विचारो! यदि यथार्थभूत ज्ञेय वस्तु न हो तो ज्ञान का स्वरूप ही क्या हो? और यदि ज्ञान न हो तो यह विसंवाद का अवसर ही क्यों हो? जगत षट्द्रव्यमय है। वे सब द्रव्य अनादिसे हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे। इन्हें न किसीने बनाया है और न इन्हें कोई धारण करता है। अनादिसे ही सभी द्रव्य यथायोग्य नैमित्तिक अनैमित्तिक रूप

परिणमते आरहेहं । द्रव्यका परिणमन स्वभाव ही है, प्रति समय द्रव्यका परिणमन होता ही रहता है । ऐसे इस जगततत्वको प्रकाशमान करने वाला यह अनेकातमय चैतय तेज जयशील होवे, ऐसी भावना ही इसका सत्य नमस्कार है ।

अनेकात प्रत्येक वस्तुका धम है, जो अनेकात का खडन करना चाहे वे भी अनेकान्तमय हं और जिहे अनेकान्तका स्मरण हो नहीं वे भी अनेकात-मय हं । प्रत्येक आत्मा स्वद्रव्यसे हो है, पर द्रव्य से नहीं है, स्वक्षेत्र प्रदेशसे ही है, परक्षेत्र प्रदेशसे नहीं है, स्वभावसे ही है, पर भावसे नहीं है, एका-नेक रूप है, नित्यानित्य रूप है, एव अनतगुणोसे युक्त है । व्यवहारमें भी देखो ! एक ही पुरुषमें पितृत्व, पुत्रत्व, मातुलत्व आदि अनन्त धर्म पाये जाते हं, विरुद्ध अनेकधर्मोका अपेक्षाभेदसे अवस्थान होनेमें विरोध नहीं आता ।

यहाँ चैतन्य भाव मात्र निजवस्तुको श्रद्धाके लिये प्रेरणा है । चैतयमात्र, ज्ञानदशनमात्र, ज्ञानमात्र आत्म-वस्तु इसलिये कहा गया है कि यह ज्ञानभाव ही सब अनन्त गुणोंका अभिन्न प्रतिनिधि है । सर्व गुणोका अनुभवन ज्ञान में मिलकर प्रतिभात होकर

उनके कार्यसे प्रभावित होकर ज्ञानद्वारा होता है। कितने ही अनुभव बुद्धिपूर्वक बन जाते हैं और कितने ही अनुभव अबुद्धिपूर्वक हो जाते हैं।

इस प्रकार यह अनेकान्तमय विलक्षण ज्ञानसूर्य संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसायरूप गहन अन्धकार को नष्ट करके प्रकट होता है। आनन्द गुण रूप कमल इस सूर्यके उदित होते ही सहजमें ही प्रस्फुटित हो जाते हैं। भव्यलोक सजग, सावधान निजपुरुषार्थमें अग्रसर हो जाता है। अहो! ऐसे निजतत्त्वकी दृष्टि प्राणियोंको अनादिसे अबतक प्राप्त नहीं हुई थी यही कारण है कि सीधा सरल एवं सुगममार्ग होनेपर भी चतुर्गतियोंमें भ्रमण करना पड़ा। जिस पर्यायमें गया उस ही पर्यायमें उस भव के अनेक समागमोंमें यह मुग्ध ही रहा। एकेन्द्रिय से असंज्ञी पचेन्द्रिय तकके भवोंमें तो यह करे ही क्या? परन्तु संज्ञी पचेन्द्रिय एवं मनुष्य होकर भी मनका उपयोग विषयसाधनाके संग्रहमें किया। अब हे आत्मन्! संसार सागरसे तरनेके साधन प्राप्त किये हैं एवं आत्मयोग्यता पायी है अब सब विकल्पोंको त्याग कर निजचैतन्य भावमय स्वयंसिद्ध वत... द्वारा अन्तर्व्यक्त

स्वभावकी आराधना एव उपासना कर। दृष्ट, श्रुत एव अनुभूत भोगोकी आकॉक्षा रूप अथवा माया, मिथ्या, निदान शल्य आदि विकार भावोंसे पथक अनेकातमय अनाकुल स्वभावमें नप्ति परिणति विधि से मग्न होओ यही सवसार है यही निजतत्वकी जय है।

अब टीकाकार पूज्य श्री १०८ आ० अमतनन्द्र जी महाराज प्रस्तुस्त ग्रन्थकी टीका करनेके प्रयोजन को वतलाते ह —

"परमानन्दसुधारसपिपासितानां हिताय भव्यानाम्।
क्रियते प्रकटिततत्त्वा प्रवचनसारस्य वृत्तिरियम ॥३॥"

"रागद्वेषादि विकल्पोसे रहित, निर्विकल्प ज्ञायक भाव रूप, शुद्ध आत्मतत्वकी भावनासे उत्पन्न हुए, परमानन्दरूप अमृतके प्यासे, भव्यजीवोके हितकेलिये यह प्रवचनसारकी वृत्ति-टीका की जारही है।" एक बार दृष्टापनकी स्थिति समझ लेनेपर, उक्तस्थितिमें परमानन्दका अपूर्व एव अलौकिक आस्वादन कर लेनेसे, कुछ समयके पश्चात् ज्ञातादृष्टारूप स्थितिसे रहित होनेपर अस्थिर अवस्थामें उस परमानन्द सुधाकी तृषा पुनर्जागत हो उठती है, ऐसे परमानन्दानुभवकी प्राप्तिमें रुचि रखने वाले भव्य जीवोंके हितार्थ

यह टीका करनेका प्रयास है। इतनी उत्कृष्ट अध्यात्म चर्चाका, आध्यात्मिकरुचि वाले योग्य पात्रोंके बिना अथवा उनके अभावमें अपात्रोंको दृष्टिमें रखकर, किया जाना कठिन है।

अब श्लोकमें आये हुये पदोंका अर्थ स्पष्टीकरण किया जाता है। परमानन्दपरा अर्थात उत्कृष्ट है, मा कहिये ज्ञप्ति, प्रमितिका ज्ञान अर्थात उत्कृष्ट ज्ञानको परम कहते ह, और उसका अविनाभावी जो आनन्द है, वही परमानन्द है। ज्ञानके बिना प्राप्त आनन्द परमानन्द नहीं कहा जा सकता। यों तो शून्यवादि "आत्मा कुछ नहीं हे भ्रम समाप्त होनेपर कोई क्लेश ही नहीं रहता" इस प्रकारकी भावनासे कुछभी न अनुभव करनेपर आनन्द तो प्राप्त कर ही लेते ह। इसी प्रकार "आनन्द ब्रह्मणो रूपम्" अर्थात् केवल आनन्द ही ब्रह्मका रूप है। इस प्रकारकी भावना करते करते अन्य कुछ उपयोगमें न रहनेसे आनन्द प्राप्त हो जायगा परन्तु, वह क्षणिक अनाकुलता-रूप परिणमन समाधान रूप न होनेसे यथार्थता व स्थिरता नहीं ला सकता। अत आत्माका स्वभाव आनन्द मात्र नही है किन्तु ज्ञान एव आनन्द गर्भित है और सहज आनन्दमें गर्भित है सहज ज्ञान।

परमानन्दका द्वितीय अर्थ इस प्रकारभी हम जान सकते हैं। परा अर्थात् उत्कृष्ट है, मा-लक्ष्मी शोभा, या ज्ञप्ति स्वभाव जहापर ऐसा परम आनन्द परमानन्द है। अनादि अनन्त एक स्वरूप, सदा प्रकाशमान किन्तु अव्यक्त, ज्ञानगम्य, चतन्यभावके दृढ़ लक्ष्य भावसे स्वय होने वाली पर्याय निमलताके कारण वह परमानन्द अनुभवकी वस्तु है।

आनन्द यह रूपका उपसग पूवक "टुनदि समृद्धौ" धातुसे कृत प्रत्यय होकर बना है, जिससे यह भाव प्रगट है कि सब ओर से सब आत्मप्रदेशोमें जो समद्धि रूप है वह आनन्द है और वही परमानन्द ही सच्चा सुधा रस है। "सुष्ठु दधाति इति सुधा" अर्थात् जो आत्माको दुखके कूपसे बचाकर उत्तम आनन्दके स्थानमें धरदे, उसे कहते ह सुधा। लोकमें तो जिसे इष्ट होता है उसे ही वे सुधा कहने लगते हे किन्तु परद्रव्य कोई भी आत्माको हितरूप परिणमित तो क्या किसी भी रूप परिणमित करनेमें समर्थ नही, मात्र प्रत्येक वस्तु अपने आपको ही परिणमाती है, धारण करती है, अत मेरे लिए जगतमें कुछ भी सुधा रस नहीं ह। मेरे चैतन्यभावकी दृष्टि ही मेरेलिए सुधा रस है, चतन्यभावकी दृष्टिरूप पानसे मैं

उपयोग परिणमनसे ही अमर रह गा । उस परमानन्दरूप सुधा रसकी तृषामे आतुर एव उसकी आराधना करनेके अनुरागी भव्य जीवोके हितके लिये इस टीकाका प्रयास है ।

भव्यानाम्– "भवितु योग्य भव्य" अर्थात् जो रत्नत्रयके विशुद्ध परिणमनरूपसे पर्यायमें होने योग्य है उन्हे भव्य कहते ह । यद्यपि आत्मास्वादनके महत्वको वर्णन करते करते स्वय आचार्य स्वानुभव में विभोर होकर समस्त जगतको सम्बोधन करके विशुद्ध मार्गानुगामी होनेका आदेश करें फिर भी प्रारम्भमें जो प्रवृत्ति होती है वह किसी विशेषको लक्ष्य करके होती है, अत यहा भव्योके हितके लिये इस टीकाका प्रयास है यह बात उचित प्रतीत होती है । पद्मनन्दि पचविंशतिकामें भव्य का लक्षण निम्नरूपेण किया है–

"तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता ।
निश्चित स भवेद्भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम् ॥"

चैतन्य तत्वकी वार्ता भी जिसने विशुद्ध अनुराग से सुनी है, वह निश्चित ही भव्य है और है पात्र निर्वाणका । चैतन्यभावकी अभिमुखता हुए बिना चैतन्य तत्वकी वार्ता सुननेकी भी नहीं होती अतः

जिसकी चैतयमें रुचि हुई वही ऐसी वार्ता सुन सकता है और वही भव्य है। हित वास्तवमें आत्म-स्वभावकी व्यक्ति ही है, स्वभाव विरुद्धभाव आकुलताका ही अविनाभावी है। यह प्रवचनसार की वृत्ति है जिसने 'प्रकटिततत्त्वा' अर्थात् गाथाओं में ग्रथित भावको जिसने प्रकट कर दिया है, स्पष्ट कर दिया है।

यह ग्रन्थ, यह टीका सब प्रमाणभूत है। प्रवचन कहिये आगम उसका सक्षिप्त रूप यह प्रवचनसार है या 'प्रकृष्ट प्रमाणीभूत वचन यत्र तत प्रवचन पारमेश्वरस्त्यागम इत्यथ।' उस प्रवचनसारकी गाथाओंमें भावको प्रकट किया गया है। अत इसका प्रवचनसारवृत्ति नामकरण साथक है तथा तत्वप्रदीपका वृत्ति इसका दूसरा नाम है। पूज्य श्री १०८ आचार्य जयसैनजी महाराजने जो प्रवचनसार की वृत्तिकी है उसका नाम तात्पय वृत्ति है। साराश यह कि जो गाथाके भावकी विवेचना करे उसे वृत्ति करते हैं।

"यह प्रवचनसारकी वृत्ति की जाती है", यहा कर्मवाच्य का प्रयोग किया गया है जिससे अध्यात्मयोगी टीकाकार आचायश्रीके कतृ भावका रहितपना ध्वनित होता है। "यह प्रवचनसारकीवृत्ति की जाती

है' इस वाक्यमें ग्रहं बुद्धिका बोध नहीं होता जैसे कि "मै प्रवचनसारकी वृत्ति करता हूँ" वाक्यमें ग्रहंबुद्धि ध्वनित होती है ।

प्रस्तुत प्रवचनसार परमागममें जो सारभूत निज चैतन्य तत्व कहा गया है वह मै ही तो हू , यह ज्ञाता, दृष्टा स्वभावी निज चैतन्य तत्व ग्रनादिसे मुझमें ही तो विद्यमान है, प्रकाशमान है, किन्तु उसपर दृष्टि न पडनेसे, उसका ग्रवलोकन न करनेसे उसे त्यागकर ग्रन्य पदार्थ, जिनको ग्राश्रयमानकर मात्र दु खके ग्रतिरिक्त कुछ पाया ही नहीं उन्हें ही हितकारी, शान्तिप्रदायी, सुखदाता एवं कल्याणकारी मैं मानता ग्रा रहा हू । ग्रब मने निज ग्रात्मिक चैतन्यनिधिको पहिचानलिया है ग्रत परमसार, परमहितरूप मैं स्वयं ही तो हूँ । इस प्रकारकी विविध ग्रात्मसुखकारी भव्यात्माग्रो का चिन्तवन एवं ग्रन्तस्तलमें मननकर निजचैतन्य भगवान के परमश्रद्धालु टीकाकार ग्रात्मोपलब्धि प्राप्त करकेजिन श्रोताग्रो के हिताय कह रहे हैं उनमें भी यही ग्रनन्त शक्ति विद्यमान है, वे निर्लिप्त निराकार, निष्कम सिद्ध प्रभुके सदृश ग्रनन्त शक्तिके ग्रक्षय भण्डार है । ऐसी द्रव्य दृष्टि को लेकर समझकर ही कह रहे है, क्योकि जो स्वभावसे पूर्ण

ज्ञानानन्द नहीं वह त्रिकालमें ज्ञानानन्दको उत्कृष्टता नहीं पा सकता। सिद्ध भगवानकी तरह म भी स्वभावत स्वय एव निरजन हूँ, इस दृढ श्रद्धाके बिना मोक्षमागका प्रारम्भ नहीं होता। यहा आचार्य श्री पर्यायरूप नहीं किन्तु उनके देहस्थित आत्मामें स्वय अपने आपको सिद्ध प्रभुकी तरह कृतकृत्य, ज्ञानधन, आनन्दमय देख रहे ह और जीवोको भी सिद्ध समान देख रहे हैं। ऐसी अलौकिक द्रव्यदृष्टिकी प्रधानता प्राप्त हुई है, जिससे यह कल्याणका अनुपम प्रयास अल्पपरिमाण में अवशिष्ट रागभावके उदयमें हो रहा है।

आचाय महाराज वस्तु स्वातन्त्र्यके दृढ श्रद्धालु है, अत प्रस्तुत ग्रन्थमें भी वस्तु स्वातन्त्र्यका विशद वणन करेंगे। एक द्रव्य अन्य दूसरे द्रव्यका परिणमन नहीं कर सकता। यह आत्मा जो कुछ करता है वह अपना ही परिणमन करता हे, ऐसी वस्तुस्थितिकी अमन्द घोषणाभी हे, फिरभी इस रचनाकी आत्मीय स्वतन्त्र प्रयासरूप पर्याय होनेसे जो भव्यजीव आश्रयभूत ह और जिनपर रचयिताकी दृष्टि गई है "उनके हितके लिये यह वृत्ति की जा रही है।" यह कथन उपचारसे हुआ हे। वास्तवमें तो सिद्ध स्वभावके

सच्चे पारखी आचाय महाराजके अतरमें वृथा भ्रमजाग, सक्लेशोको सहते हुये अन्योंको देखकर, जो परम करुणामय वेदना हुई है उसीका यह प्रतीकार है अथवा निजानुभूतिको निमल बनाये रखनेका उद्देश्य तो मुख्य रहा है और गौण रूपण परकल्याणका प्रयोजन रहा है या प्रथम उद्देश्य अतरङ्ग है और द्वितीय उद्देश्य वहिरङ्ग है अतरङ्ग प्रयोजन तो मगलाचरणसे ही ध्वनित हो गया है। अत अब श्रीमद् अमृत-चन्द्राचाय अपने प्रयासके वहिरङ्ग प्रयोजनको बतलाते हैं कि "परमानन्दरूप अमृतरसके पिपासु भव्यजीवोंके कल्याणकेलिये, प्रगट हुये हैं तत्त्व जिसमें ऐसी प्रवचनसारकी टीका की जा रही है।"

अब गाथाओंके विवरणसे पहिले मूलग्रन्थप्रणेता पूज्य श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवके भावोंका एव गाथाओंके निर्माण कालके नायको श्री अमृतचन्द्रजी बतलाते हैं—

जिसका ससार पारावार समीप आगया है, ऐसा कोई निकट भव्य ही इस ग्रन्थका प्रणेता हो सकता है, क्योंकि विषयकषायोंकी विषम शृङ्खलाओंसे निकलना एवं भेद विज्ञान, नीरक्षीर विवेकका प्रयत्न करना अतिकठिन है। ससारसे मुक्त होनेकी इच्छा सब ससारियोंके होती है पर ससार जालसे मुक्त

बिरले ही हो पाते हैं। अज्ञानी संसारीका संसारसे मुक्त होना जितना कठिन है आत्मस्वरूपके ज्ञानीको मुक्ति प्राप्त करना उतना ही सरल है।

एक-दो भवावतारी व्यक्ति ही इस ग्रन्थके रचने का पात्र होना चाहिए। पूज्य आ० श्री कुन्दकुन्द महाराजका संसार अति निकट आ गया था, उनकी विवेक ज्योति प्रकट हो गई थी, भेद विज्ञानकी पैनी छैनीका उन्होंने आश्रय लिया इसीके फलस्वरूप वे समता सुधाके पात्र हुए। उन्होंने यह ग्रन्थ नहीं बनाया किन्तु समता प्राप्तिका ही उन्होंने उद्यम किया है।

श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्यके बनाये हुए समयसार एवं प्रवचनसार इन दोनों ग्रन्थोंमें लोग छोटेबडेपनका भाव लाते हैं कि समयसार और प्रवचनसारमें कौन ग्रन्थ बडा है ? किसमें अध्यात्मरस अधिक भरा है ? लोग समयसार को बडा समझते हैं। प्रवचनसारमें समयसारकी अपेक्षा ज्ञान, ज्ञेय, चारित्रका एवं प्रमेयका वर्णन अधिक है तथा समयसार में निमित्त-नैमित्तिक का अच्छा वर्णन है तथा आत्मस्वभावका विशद निरूपण है। समयसार शान्तिप्रद ग्रन्थ है, उसमें भेद विज्ञानका विस्तृत वर्णन है तो प्रवचनसार क्रान्तिका

ग्रथ है। अत मेरी दृष्टिमें तो दोनो दोनोसे ही बडे हैं। श्री मद कुदकुदाचायका पञ्चास्तिकाय अभ्रान्ति-का ग्रथ है क्योकि वह द्रव्य सम्बधी भ्रान्तिको दूर करता हे, वह भी अपूव ग्रथ है।

कुदकुदाचायको भेद विज्ञान प्राप्त हो गया अत उन्होने इस ग्रथका आलम्बन बनाकर समता प्राप्तिका यत्न किया। भद विज्ञानके बिना कौन समता को प्राप्त हुआ ?

तीर्थंकर जसे महापुरषभी अपने विशाल वैभवका परित्याग कर जब निजात्मामें लीन हुए तब समता सुधाका आस्वादन कर पाये। पर हम उनसे विपरीत ह और वैभवको जुटाकर समता पाना चाहते हैं। हम अपने जीवनके अतिम क्षणा तक सासारिक गृहजाल के कृत्योंमें हो निजको कृतकाय माना करते हैं। जुलाहा कपडा बुनता है तो बुनते-बुनते २-४ अगुल जगह अतमें छोड ही देता है किन्तु मोही जीव अपने जीवनके अततक राग भावके तन्तु पूरनेमें ही लगा रहता है, चार, छ मिनिट को भी बुनना नहीं छोडता। सुखपाना हे तो विकल्पोका नाश कीजिये। धन सम्पत्ति आदि के सयोग वियोगके कारण ससारी जीव नाना विकल्प करते रहते हैं किन्तु भैया !

धनादिकका आना जाना तो कर्मोदयके आधीन है, मनुष्यतो केवल कल्पनाऐं ही कर सकता है, अत वह अशुभके स्थानमें शुभ कल्पनाऐं क्यो नहीं करता ? बच्चे कभी आपसमें जीमनवार करते है तो पत्तोको परोस कर रेतीके दानोमें बूदीकी कल्पना करते है। पर जब सब काल्पनिक ही वस्तुऐं ह तो फिर ओछी कल्पना करना नहीं चाहिये।

ससार के जिस पदार्थमें हमारा जितना अधिकार राग होगा, वह पदाथ निमित्त दृष्टिसे हमारा उतना ही बडा शत्रु है और समझना भी चाहिए। बम्बई में एक दम्पति रहते थे। दोना जब शहरमें या अन्यत्र पर्यटनार्थ निकलते तब पुरुष अपनी स्त्रीके ऊपर छतरी तान लेता था। उसे अत्यधिक राग था और पत्नीका अल्पमात्र कष्ट भी देखा न जाता था। स्त्री बार बार उसे समझाती देखो ! जो आप मुझसे इतना अधिक राग करते ह, यह आगे जाकर आपनो बहुत दुखदायी होगा किन्तु मोहमदिरासे मत्त पुरुष नहीं मानता था दैवयोगसे पत्नीका स्वगवास हो गया। वह उसके वियोगमें पागल हो गया हमारा यह राग ही महा दुखदायी है, दुख की खान है। जिनका लक्ष्य करोडपति बनना है और जो सम्पत्तिमें राग

रखते हैं, वे दुखी हैं, बहुत दुखी हैं, किन्तु जिनका लक्ष्य भेद विज्ञान प्राप्त करना है, वे सुखी हैं, बहुत सुखी हैं।

मनुष्य भवकी सार्थकता —

जीव एक श्वासमें अष्टदश बार जन्म मरणरूप निगोद पर्यायसे निकलकर उत्तरोत्तर ऊँची पर्याय भी प्राप्त करले उच्च कुलमें जनम लेकर वेदादिकका अध्ययन भी करले, यदि फिरभी वह एकान्तवाद से दूषित रहा तो उच्चकुल पाना एवं ज्ञानार्जन करना व्यर्थ ही गया। इसी प्रकार जैनकुलोत्पन्न होकर भी यदि हम परम्परागत रूढियोंके दास बने रहे, रूढियों का आलम्बन अन्धविश्वास पूर्वक लिये रहे, उनके रहस्य को न समझे, उनके वास्तविक स्वरूपका स्पर्श भी न किया, सिर्फ परलक्ष्यी ही बने रहे तो जैन कुलमें जन्म लेनका हमने कोई सदुपयोग नहीं किया। परलक्ष्यी पुरुष मोक्ष मार्गानुगामी नहीं कहे जा सकते।

तीर्थंकरकी महत्ता —

श्री समन्तभद्राचार्यने "देवागम" स्तोत्रकी रचना की किन्तु वे भगवान महावीर स्वामीके अन्धभक्त न थे प्रत्युत गुणरत्न निरीक्षण एवं परीक्षणमें ही

धनादिकका आना जाना तो [illegible] मनुष्यको केवल कल्पनाएँ ही कर [illegible] है [illegible] अशुभके स्थानमें शुभ कल्पनाएँ करो [illegible] है बच्चे कभी आपसमें नामनवार [illegible] हैं [illegible] परोस कर रतोंके दानोंमें बूंदोंको [illegible] हैं। पर जब सब काल्पनिक ही वस्तुएँ हैं तो [illegible] कल्पना करना नहीं चाहिये।

संसार के जिन पदार्थमें हमारा [illegible] राग होगा, वह पदार्थ निमित्त दृष्टिसे हमारा [illegible] ही बड़ा शत्रु है और समझना भी चाहिए। [illegible] में एक दम्पति रहते थे। दोनों [illegible] अन्यत्र पर्यटनार्थ निकलते [illegible] ऊपर छतरी तान लेता था। [illegible] और पत्नीको अल्पमात्र कष्ट भी [illegible] था। स्त्री बार बार उसे समझाती रहती [illegible] इतना अधिक राग करते हैं [illegible] बहुत दुखदायी होगा किन्तु [illegible] नहीं मानता था [illegible] गया। वह उसके वियोगमें [illegible] राग ही महा दुखदायी है दुख का [illegible] है। [illegible] लक्ष्य करोड़पति बनना है और [illegible]

में उत्पन्न हुए ह तथा और भी विशेषताऐं बतलाएँ" तो भी आप हमारे लिये पूज्य या महान् नहीं ह। यथार्थमें आप हमारे लिये महान् इसलिये ह क्योंकि 'आपका ज्ञायक स्वभाव प्रकट हो गया है, रागादिक विकृतभाव दूर हो गये हैं, आप शुद्ध हैं, निरजन हैं, निर्विकार हैं, निराकार ह, अत आप पूज्य हैं, आराध्य ह, हमारे लिए महान् ह।" इस प्रकार गुणानुरागी आ० समन्तभद्रजी अपने आराध्यदेवकी परीक्षा करके ही उनकी स्तुतिमें प्रवृत्त हुए ह,

यदि कोई भक्त वीतराग भगवान के यथार्थ स्वरूपको न जानकरके भी उन्हे नमस्कार करता है, उनकी भक्ति एव स्तुति करता है तो यद्यपि उससे परमअभीष्ट की सिद्धि नहीं होती फिर भी उसकी स्तुति निष्फल नहीं जाती। इसीके सम्बन्धमें श्री धनञ्जय महाकवि 'विषापहार स्तोत्र में' कहते हैं —

"अजानतस्त्वा नमत फलयत
तज्जानतोऽन्य नतु देवतेति।
हरिन्मणि काचधिया दधानस्
ततस्य बुद्धया वहतो नरिक्त ॥"

हे भगवन्! आपको नही जान करके भी नमस्कार करने से जो भक्त को प्राप्त होता है वह

फल ब्रह्मादिको देव मानकर नमस्कार करनेसे भी प्राप्त नहीं हो सकता। इसका सरल सुबोध उदाहरण यह है कि यदि कोई एक पुरुष तो काचको हरिन्मणि समझकर बाजार में बेचने जाये, और दूसरा हरिन्मणिको मणि न समझके भी उसे बेचने जाये तो इन दोनोंमें से मणिका मूल्य कौन प्राप्त करेगा ? जिसके हाथ में मणि होगा वही मणिका मूल्य प्राप्त करेगा। वैसे ही जो सच्चेदेवकी भक्ति करेगा, वही फल प्राप्त करेगा, अन्य नहीं।

एक भक्त तो रागादिकके मैलसे मलिनदेव की भक्ति, स्तुति करता है और दूसरा वीतराग, परम शुद्ध, ससारमायापरिवर्जित भगवान की भक्ति करता है। जो जसी और जिसकी भक्ति करेगा वह वैसा ही फल प्राप्त करेगा। कांचको मणि समझने वाले और मणिको कांच समझने वाले दोनो व्यक्तियो का अतर तो विचारो ! कांचको मणि समझकर हाथमें रखने वाला पुरुष निर्धन ही है—उसे कुछ धन उसके वदले मिल नहीं सकता किन्तु मणिको हाथ में रखने वाला धनी ही है क्योंकि वह अतुल धन राशि मणिके बदलेमें प्राप्त कर सकता है। मणिको
वाला व्यक्ति बुद्धिसे अवश्य रिक्त है

रिक्त नहीं है और दूसरा व्यक्ति बुद्धिसे रिक्त भी है और वास्तवमें हाथ से भी रिक्त है।

पूज्य पूजकका सामजस्य —

यदि देखा जाय तो आराध्य और आराधक, पूज्य और पूजक और साधक, उपास्य और उपासक दोनोकी साध्य एक ही श्रेणी है। हाँ! अतर इतना है कि सिद्ध भगवानने अष्टकर्म नष्टकरके अष्टगुण प्राप्त कर लिये है और हमने अष्टकर्म तो नष्ट नहीं किये किन्तु वसी ही शक्ति हममें अन्तर्निहित है जसी की सिद्ध भगवान में है। अतएव पूजकका विवेक जागृत होना चाहिये। बिना विवेकके पूजककी निर्मल भावाभिव्यक्ति सभव नहीं। अत शुद्ध, बुद्ध निरञ्जन सिद्ध भगवानके भक्तको उन गुणोंको अनुभूति स्वत होते रहना चाहिये जिससे समेत होनेके कारण हम उन्हें पूजते, उनकी भक्ति करते हैं। उनके सदृश बनना ही हमारा अंतिम लक्ष्य होना चाहिए। भगवानका स्वरूप उच्च है, उनका स्थान उच्च है और उनकी भक्ति पद्धति भी उच्च है।

भक्त का प्रमुख लक्ष्य —

...तिकालमें जिन देवताको ऊर्ध्व-
...है। अद्यपर्यन्त क्या किसी

भक्तने अपने इष्ट देवको अधोमुख होकर अर्थात् पातालकी ओर मुख करके पुकारा है ? नहीं ! नहीं ! इससे ज्ञात होता है कि सच्चे देवका निवास नीचे नहीं, अपितु ऊपर है, सिद्धालयमें है। भक्त उनकी भक्ति अहसानके लिये नहीं करता और न वे सुनते ही है, वह भक्ति तो स्वसुख प्राप्तिकेलियें ही करता है।

वास्तवमें देखाजाय तो कोई भी भक्त निज इष्ट देवकी आराधना अपने प्रयोजन सिद्ध करने के लिये ही करता है। भक्तको आराध्य देवके द्रव्य, क्षेत्र काल एव भावके आश्रयसे उनका स्वरूप चिंतवन करना चाहिए। मूर्तिके समक्ष स्थित होकर उसपर उसकी वीतराग छबि पर, उसकी नग्न एव शांतमुद्रा पर और उसकी नासादृष्टिरूप निश्चल निष्काम तथा नयनाभिरामावस्थापर अपनी दृष्टि रखो और इसके पश्चात निजपर, निजचैतन्य, विशुद्ध, ध्रुव, अहेतुक एव निजस्वाभाविक परिणतिपर अपनी दृष्टि स्थिर रखो। मूर्तिमें पाषाण, स्वर्ण, रजतादि से निर्मितता का ध्यान करनेसे कोई लाभ नहीं। अरहंत, सर्वज्ञ, वीतराग और सिद्धके रूपमें ही उसका अवलोकन, दर्शन एव ध्यान करो और फिर उसके सहारे निज-शुद्धात्माका ध्यान, स्मरण करो, तब भक्त

अनन्त, अविनश्वर एव अचिन्तनीय सुखानुभव करेगा। इसीमें उसे लाभ है, सुख शान्ति है।

स्वानुभव में जिन बिम्ब का आश्रय —

हरएकको अपनी योग्यताके अनुसार मूर्तिमें वीतरागताके दर्शन करना चाहिए। साधु-सन्त मूर्तिके बिना भी अपने ही आधार पर स्वज्ञायक भावकी आराधना करते हैं पर गृह-जंजालोंमें फँसे गृहस्थ केवल अपने ही आधार पर, बिना मूर्ति आदिका अवलम्बन लिये तत्वका ध्यानी कितनी देर तक रह सकता है? इसलिए भैया! मन्दिर और मूर्तियोंके अवलम्बन गृहस्थोंके समुज्वल एवं उन्नत भविष्यके निमित्त हैं, किन्तु, वहां मात्र बाह्यपदार्थ या बाह्य क्रियाओंका लक्ष्य न होना चाहिए। मन्दिरमें मूर्तिके दर्शन करते समय आत्मस्थित, ज्ञानानन्दमय स्वचैतन्य भगवानके भी दर्शन करना चाहिए तथा पूजनमें मूर्तिका आश्रय लेकर अनन्त सुखके सागर निजात्माका ही पूजन करनेका मुख्य उद्देश्य होना चाहिए। जिनका संसार पारावार निकट है, सम्यग्दर्शन की पतवार जिन्होंने हस्तगत करली है तथा ज्ञान ध्यान एवं तप ही जिनके रत्न हैं, उन्हें केनापि प्रकारेण अन्तरंगमें ज्ञायकभावका अवलोकन हो ही जाता है।

अन्ध विश्वास और रूढियां त्याज्य —

अब श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्यजीके विशेषणका स्पष्टीकरण किया जाता है —

"अस्तमित समस्तैकान्तवाद विद्याभिनिवेश" अर्थात् जिनका समस्त एकान्त रूप अभिप्राय नष्ट हो गया है अतएव उन्हे किसी पक्षका परिग्रह नहीं रहा। वर्त्तमानमें ऐसे अनेक उदाहरण देखनेको मिलते हैं कि कितने ही विद्वान ऊँचेसे ऊँचा अध्ययन कर लेते हैं तथा दिगम्बर जैन दर्शनके ग्रन्थोंको भी पढाते हैं और उनके पढानेसे उन्हे सम्यग्ज्ञान भी हो जाता है किन्तु फिर भी, कुल परम्परागत रूढिका पक्ष नहीं छोड पाते।

बनारसमें एक पंडितजी थे, वे ऊँचे विद्वान थे। जैन धर्मपर उन्हे सच्ची श्रद्धा भी हो गई फिरभी वे रात्रिके अन्तिम प्रहरमें गंगामें खडे होकर कुल परम्परागतानुसार विविध दैनिक क्रियाएँ करते रहे। जब उनसे पूछा गया कि आपकी यथार्थ श्रद्धा व्यक्त होनेपर भी आप क्रियाएँ विपरीत क्यों करते हैं? उत्तर मिला "श्रद्धा तो हमें आत्म स्वभावकी हो चुकी है फिर भी जो कार्य पहलेसे करते आये हैं, उन्हें करनेके लिये अनादि संस्कारवश शरीर चल पडता है। अत

स्पष्ट है कि यहाँ पर पंडितजीके सूक्ष्म पक्षका परिग्रह तो है ही ।

पक्षवादिताकी चरमसीमा —

जैन दर्शन यथार्थ तत्वका प्रतिपादन करता है । कितने ही लोग तत्वकी यथार्थताको समझ ही नहीं पाते अतः इससे हैरान होकर उन्होंने यह कहा है कि —

"हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमंदिरम् ।
न गच्छेज्जैन मंदिरं, न पठेज्जैनदर्शनम् ॥"

हाथीके पगतले कुचले जाकर मर जाना अच्छा है किन्तु जैन मन्दिरमें जाना और जैन दर्शनको पढ़ना ठीक नहीं । यह भी ठीक ही है, क्योंकि जो जिन मन्दिरमें जायगा अथवा जो जिन दर्शन पढ़ेगा वह जैन हो जायगा । यह बात उन मोहियाको अभीष्ट नहीं अतः उन्होंने ऐसी विपाक्त उक्तियां गढ़ रखी हैं ।

"हस्तिनाताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैन मन्दिर"
के निराकरणमें जैन दर्शनके अनुयायियोंने भी ठीक ही लिखा है —

"हस्तिनाताड्यमानोऽपि न त्यजेज्जैन मन्दिर"
अर्थात् हाथीके पगतले कुचले जाने परभी जैन मन्दिरमें जाना न छोडना चाहिए ।

अनेकातकी उपयोगिता --

सचमुचमें जैनदर्शन इतना सरल और यथार्थ प्रतिपादक है कि जो इसे एक बारभी हियेकी आखोसे देख लेता है तो अवश्य ही वह इसका अनन्य श्रद्धालु हुये बिना नहीं रहता। अनेकान्त जैन सिद्धान्तका प्राण है। इस अनेकान्तको हम एक उदाहरण द्वारा समझ सकते हैं। यह काँचका गोला जो हम हाथमें लिए हैं—यह सदा रहेगा या नही रहेगा ? इसका जो आकार प्रकार है वह तो सदा रहने वाला नही है पर इसका जो द्रव्य है वह सदा रहेगा, उसका कभी नाश नहीं होगा। वस्तुकी यह अनेकान्तरूपता सदा बनी रहती है और इसके प्रतिपादनको ही स्याद्वाद कहते हैं। यही जैन-दर्शनका स्वरूप है और इस स्याद्वादको माने बिना ससारका कोई काम नही चल सकता। देखो ! इस हाथकी तीन अगुलियोमें कौन छोटी है और कौन बडी है ? न किसीको छोटी कह सकते हैं और न किसीको बडी। वे परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षासे छोटी बडी हैं। एकान्तवादी भी इस बातको मानते हैं और एक ही व्यक्तिमें अनेक बातोसे उसमें मामा, काका, नाना आदि अनेकरूपका व्यवहार करते हैं किन्तु वस्तु स्वभावको अनेक धर्मात्मक नहीं

मानते–यही उनका मिथ्याभिनिवेश है।

क्रियायें प्रमुख लक्षकी पूरक हों —

जिन धर्मके दार्शनिक और आध्यात्मिक शास्त्र यद्यपि कुछ कठिन है तथापि यदि आप निरन्तर अभ्यास करते रहेंगे–उन्हें सुनते रहेंगे तो अवश्य ही उनके ज्ञाता एवं मर्मज्ञ हो जावेंगे। आध्यात्मिकज्ञान होना बहुत आवश्यक है। जितनीभी हमारी व्रत, तप, क्रियायें है, वे सब इसी ज्ञानमात्र भावकी दृढ़ताके लिए है। जो भी क्रियाएँ होती है वे कोई भी रहस्यसे रिक्त नहीं होती यदि उन्हें कोई न समझे और क्रिया करे तो वह कर्मकाण्डी कहलाता है। यदि लक्ष्यपर दृष्टि रहे और क्रियाएँ करे तबतो वह निश्चयसे व्यवहारके मार्गपर चलते हुए बोधके रथमें बैठा है।

किसी सेठजी के यहा जीमनवार थी। भोजन के अनन्तर कुछ व्यक्तियों को दांत कुतेरने के लिए सींककी आवश्यकता पडी। उन्होंने पत्तलमें से एक सींक निकालकर दांत का मैल निकाला जिसे देखकर सेठ जी ने सोचा कि इन लोगोंने हमारी पत्तलोंमें खाया और उन्हींमें छेद किया। अगली जीमनवारमें सेठजीने पत्तलके साथ साथ चार-चार अगुल की

सींक भी परोसवादी। सेठजी की मृत्यु हो जाने पर उनके पुत्रको जीमनवार करने का अवसर आया। उन्होंने सोचा कि मेरे पिताने ४ तरहकी मिठाई बनवाई थी अत मुझे उससे भी अच्छी जीमनवार करना चाहिए। इसलिए उसने ६ तरहकी मिठाई बनवाई और ४ अगुलकी सींकको जगह ६ अगुलकी सींक भी परोसवादी जिससे कि पिताके किये गये कर्योमें बेटा किसी भी कायमें पीछे न रह जाय। उसके भी परलोक सिधार जाने पर उसके पुत्र ने अपने बापके समयसे ड्योढी चीजें बनवाई और तदनुसार ८-६ अगुल लम्बी और मोटी एक एक दातुन भी जीवन-वारमें परोसी। यह क्रम यहां तक बढता गया कि तीसरी-चौथी पीढीमें उसके यहां विविध मिठाओके साथ एक-एक हाथका डडा भी परोसा जाने लगा। देखो! एक बार लक्ष्य भ्रष्ट होनेसे कहा तककी नौबत आ गई। यदि लक्ष्य रहता तो बात सींकसे आगे न बढती। उसी प्रकार हमारी जितनी भी क्रियाऐं हैं उन सबका लक्ष्य पहिचानना चाहिए। जिसको इस लक्ष्यकी दृष्टि हो जाती है, उस मनुष्यकी वाह्य प्रवृत्ति भी उचित हो जाती है। वह मधुमासादिक सेवन नहीं करता। उचित प्रवृत्ति सम्यग्दर्शनकी अनुमापक

है समयसारमें भी लिखा है —

"जिनके भेद विज्ञान होता है, उनके उसी क्षण क्रोधादिकी निवृत्ति भी होती है। अर्थात् अन्तरगके भावोके अनुसार बाह्यआचरणमें अन्तर आता ही है। जिनके कषायादिकमें अन्तर नही उनके भेदविज्ञान होनेमें शका ही है।"

अहो भव्य जीवो! पुण्य पापकी कथा तुमने अनत कालसे सुनी है, तद्रूप अनेक क्रियायें की हैं और उनका फल देखा है, उनका अनुभवन किया है परन्तु क्या तुमको सुखका सोपान मिल सका? एक बार चिरकालसे अपरचित अपनी कथा सुनो, अनुभवन करो। तुमको यह आनद प्राप्त होगा जो आनद इन्द्रादिकके ऐश्वर्य अनतबार भोग करके भी नहीं मिल सका।

क्रियाका फल अतर्भावनाके आश्रित है—

हमें हर क्रियाको करते हुए अपना लक्ष्य विशुद्ध एव निर्मल रखना चाहिए। जिन्होने अपने लक्ष्यका निर्णय नहीं किया, अपने अतरङ्ग भावोको बाह्य क्रियाओंमें विस्मृत कर दिया, वे वास्तविक मार्ग से कितने दूर भटक गये है इसका उन्हे ज्ञान नहीं रहता। हम भगवानके समक्ष जल चढाते समय "जन्म जरा

मत्यु विनाशनाय जल निर्वपामिति स्वाहा" तो कहते ह किन्तु अन्तस्तलमें यही मन्द स्वर गूजता रहता है 'हे भगवान ! म धनसम्पन्न हो जाऊँ, म पुत्रवान हो जाऊँ, मेरा सदा सम्मान हो आदि।" तो भया ! सीधा यही क्यों नहीं कहते ? "पुत्र पौत्रोत्पादनाय जल निर्वपामिति स्वाहा"। हम भगवान की पूजा करें, जोर जोरसे नामोच्चारण करें किन्तु उन क्रियाओंमें जब तक भावनाकी प्रमुखता नहीं होती तब तक हमारी क्रियाएँ निष्फल ही हैं। अन्तरङ्ग भावनाओंकी बाह्याचरणमें भी रक्षा करनेके लिये मुमुक्षु एव जिनासुओंकेलिये सम्यग्ज्ञानको वृद्धिगत करनेको आवश्यकता है और आवश्यकता है एकान्त मिथ्याज्ञानको मिटानेको, विध्वस करने की।

साधकमें पर्यायदृष्टि नहीं होती —

भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य एकान्त दुरभिनिवेशसे विमुक्त थे। कोई योगी या मुनि यदि स्वयमें यह अनुभव करता है कि म मुनि हूँ, तो वह उसी समय से मिथ्यात्वी है। वास्तवमें जिन वस्तुओंसे प्रयोजन छूट जाता है, वे वस्तुएँ स्वमेव छूट जाती ह। सच्चे सन्तसे वस्तुएँ स्वत सम्बन्ध विच्छेद कर लेती हैं किन्तु झूठे साधुसे वस्तुएँ अपना निकट सम्बन्ध जोड़ती

हुई प्रतीत होती है किन्तु ऐसा साधु त्यागीका अभिनय मात्र करता रहता है। सच्चा साधु अपनी विकृतावस्था एव विविध गतियोमें प्राप्त पर्यायो पर दृष्टि नहीं रखता किन्तु उसकी दृष्टि सदा निज चतन्य प्रभुकी शुद्ध बुद्ध, निर्विकार, अहेतुक, ज्ञानदर्शनरूप वास्तविक अवस्था परही केन्द्रित रहती है। "म शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, निरञ्जन हूँ, एव मे ससारकी माया मोह आदिसे रहित हूँ, हूँ स्वयमें लीन, स्वय सिद्ध और स्वयमें पूण।" ग्रन्थकी इन प्रारम्भिक बातोका समझना ही ग्रथका समझना है। दर्जीको कपडेका आकार प्रकार बतलाना कपडे सिलानेका ही कार्य है।

अमृत शब्दकी तात्त्विक परिभाषा --

यह कहा जाता है कि चन्द्रसे अमृत झरता है और यहभी कहा जाता है कि देवताओंके कण्ठसे अमृत झरता है तथा वे उसका पान करते ह। अमृत का पान करने वाला अमर हो जाता है किन्तु अमृत सेवी देवताओकी तो मृत्यु होती है फिर अमृत क्या वस्तु है ? मेरे ध्यानसे अमृत कोई पौद्गलिक वस्तु नहीं है किन्तु ज्ञानमात्र परिणमनको अमृत कहते हैं, क्योकि वह कभी नष्ट नहीं होता। उस ज्ञानमात्र परिणमन पर जिसकी दृष्टि हो जाती है वह अमरहो

जाता है। हमें सदा इसी अमृतका नित्यप्रति सेवन करना चाहिए। ज्ञानके समान ससारमें सुखका अन्य कोई उपाय नहीं है। गृहस्थोके विविध कार्योके सम्पादनमें, भोगोपभोग द्वारा पचेद्रियोंके विषयसुखोको प्राप्तिमें व्यस्त मान वशान्तिके दशन तक न करसका। जब बाह्य पदार्थोमें सुख एव शान्ति देनेका स्वभाव ही नहीं फिर उनसे सम्पर्क बढाकर हम सुखी हो जाय, यह हो नहीं सकता। अत, इनसे विमुख होकर इनकी प्रवृत्तिको निवृत्तिमें परिणित कर देना ही श्रेयस्कर है। अशुभादि क्रियाओसे निवृत्ति रूप मार्ग अपनाने में अन्तरग चारित्रका प्रादुर्भाव होता है, जो अविनश्वर है। इस प्रकारकी सुधासरिता जिनके हृदयमें प्रवाहितहो रही है ऐसे श्री मद् अमृतचद्राचाय, श्री आचाय कुद-कुदरचित प्रस्तुत ग्रन्थ प्रवचनसारकी टीका करते हैं। सासारिक गृह जजालोमें फंसा मानव अपने इष्ट पदाथको अमृत मानता है। ऊँट नीमके पत्तोको इष्ट मानता है तो क्या नीम के पत्ते अमृत हो गये ? नहीं, सम्यग्ज्ञान ही अमृत है उसका पान करके ही हम अमर हो सकते हैं।

समताभाव में पक्ष-परिग्रह भी बाधक है—

— बाह्य परिग्रह छोडना सरल है किन्तु,

जीव शरीरको ही म समझता है इसी कारण वह निन्दा और प्रशसा करनेका परिश्रम करता है तथा स्वयके निन्दित या प्रशसित होने पर दुखी और सुखी होता है परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव शरीरसे भिन्न ज्ञायक भावमय आत्माको जानता है इसलिये उसके परिणाम सम एव विषम परिस्थितियो तथा इष्टानिष्ट पदार्थोमें समान रहते ह। भया! मरणके बाद यह शरीर, जिसे तुम अपना मान रहे हो अग्निमें जला दिया जाता है अत वह तुम्हारा कैसे है? यदि है तो उसे तुम्हारे साथ ही जाना चाहिये था।

पक्ष एव विषम कषाय ही आत्माके पतनके कारण ह—

आचाय श्री कुन्दकुन्द पक्ष परिग्रहका अभाव होनेसे निष्पक्ष थे। जब तक मनुष्यके हृदयमें किसी बातका या किसी जाति या पदका पक्ष होता है तब तक वह निष्पक्ष नहीं बन सकता। एक समयकी बात है कि हस हसनीका एक जोडा मानसरोवरको जा रहा था, मागमें जाते हुये रात्रि हो गई। वे एक स्थान पर रात्रिमें विश्राम करनेके लिये उतरे। एक कौआसे उन्होने पूछा क्यो भैया! हम एक रात तुम्हारे यहा बिता सकते ह? कौआने अनुमति दे दी। प्रात काल जब हस युगल जानेको उद्यत हुआ,

तो कौआने हसनीको पकड लिया और बोला यह तो मेरी स्त्री है, मै इसे नहीं जाने दूगा। हस यह सुनकर बडा दुखी हुआ। उसने अनेक प्रकारसे समझानेका प्रयत्न किया किन्तु कौएने एक न मानी। अन्तमें हसने कहा कि हम इसका निणय पचोके ऊपर छोड देवें और जो निर्णय वे करेंगे वह दोनो को मान्य होगा। ऐसाही किया गया। पाच पच निर्वाचित किये गये। सब मामला सुनकर दो पचोने हसनी को कागकी स्त्री बतलाया और दो ने हसकी स्त्री सिद्ध किया। अन्तमें सरपचने अपनी जातिका पक्ष लेकर हसनी कौएकी स्त्री है अपना निणय सुना दिया। यह सुनकर हस मूर्च्छित होकर धराशायी हो गया। सचेत होनें पर पूछा गया कि तुम इस निणयसे मूर्च्छित होकर क्यो गिर पडे? तुम्हे तो प्रसन्नता होनी चाहिए थी। कौआ बोला भाइयो! पचोमें परमेश्वर निवास करता है यह मुझे स्मरण था और मुझे यह दृढ विश्वास था कि कमसे कम सरपच तो झूठ नहीं बोलेगा। जब जातिका पक्ष लेकर सरपचने ही झूठ कहा तो सच्चा न्याय और कौन दे सकता है? तात्पय यही है कि जब तक निष्पक्षता नहीं आती तब तक उसके वचनोमें

है और यह मोक्ष लक्ष्मी आत्मस्वरूप ही है अत भली है, उत्तम है, श्रेष्ठ है अत सार भूत है। भया ! ये बाहिरी कोई भी वस्तुएँ आत्माका हित नहीं कर सक्तीं और ऐसा नान हो जानेका नामही तो सम्यग्दशन है। अपनी आत्मामें ही तीव्रानुराग करना चाहिए। कहा भी है— 'स्वशुद्धात्मरुचि सम्यग्दर्शनम्' अर्थात् निज शुद्धात्मामें रुचि, श्रद्धा, या दृढ प्रतीतिका होना सम्यग्दशन है। ऐसे सम्यग्दृष्टि जीवकी वडी विचित्र गति होती है। वह "गच्छन्नपि न गच्छति, पश्यन्नपि न पश्यति, कुर्वन्नपि न करोति, हसन्नपि न हसति एव जल्पन्नपि न जल्पति" की अलौकिक स्थितिमें होता है, अर्थात् वह विविध क्रियाए करते हुए भी उनमें रमता नही, उनमें लिप्त होता नहीं, वह कभी लक्ष्य भ्रष्ट नहीं होता, किसी कार्यको करते हुए भी अपने उद्देश्यको भूलता नहीं, कभी ध्येयसे हटता नही। वह निरतर अपने ज्ञायक भाव में जागरूक रहता है। वह जानता है कि म परका कुछ हित नही कर सकता। म जो कुछ भी करता हू वह स्व हितकेलिये ही करता हूँ। मैं क्या सबके हितकेलिये यह सब कुछ बोल रहा हूँ ? नहीं, मैं सबके आश्रयसे स्वयकेलिये ही कह रहा हूँ। इस प्रकार

अपने ही मार्गको स्वच्छकर उस पर ही चलने का यह प्रयत्न कर रहा हूँ।

आत्माका ज्ञाता स्वभावही सौख्यपूर्ण स्वदेश है —

प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचिको जानता है। सभी समझ सकते है कि मेरी रुचिमें क्या वस्तु है ? यदि रुचिमें स्त्री, पुत्र एव मित्रादि है तो समझोकि हम निजात्माकी रुचिके विरुद्ध है और सन्मार्गसे बहुत दूर भटक चुके है तथा यदि केवल ज्ञातादृष्टा स्वभावरूप ही रहनेकी उत्कण्ठा हो तो समझिये कि मने सन्मार्ग पालिया। ज्ञायकभावके दर्शन कर लेनेपर आत्माके परिणामोमें कितनी विरक्ता एव शरीरके प्रति कितना निरपेक्षाचरण हो जाता है कि उसे अपनी आत्मामें लीनताके अतिरिक्त अपने शरीरसे कोई ममत्व या मोह नहीं रहता। इसका वर्णन समयसारमें एक स्थल पर किया गया है —

"छिज्जदुवा भिज्जदुवा णिज्जदुवा अहव जादु विप्पलयं।
जम्हा तम्हा गच्छदु तहविहुण परिग्गहो मज्झ ॥"

इसीकी टीकामें कहा है, छिद्यता वा, भिद्यता वा, नीयता वा विप्रलय यातु वा, यतस्ततो गच्छतु वा, तथापि न परद्रव्य परिगृह्णामि। यतो न परद्रव्य मम स्व, न परद्रव्यस्य स्वामी। परद्रव्यमेव पर-

द्रव्यस्य स्व, परद्रव्यमेव परद्रव्यस्य स्वामी। अह एव मम स्व, अह एव मम स्वामी।

अर्थात यह शरीर चाहे छिद जाय, चाहे भिद जाय चाहे कहीं चला जाय, चाहे प्रलयको प्राप्त हो जाय और चाहे जहाँ कहीं भी चला जाय तथापि मै परद्रव्य को ग्रहण नही करता हूँ, क्योकि परद्रव्य मेरा 'स्व' निज धन नहीं है और न मै परद्रव्यका स्वामी हूँ। परद्रव्य ही परद्रव्यका स्व है और वही उसका स्वामी है। इसी प्रकार मै हीं मेरा स्व हूँ और मेरा म ही स्वामी हू ँ। भैया ! देखो ! वाह्य वस्तुए जो दिखती ह वे तो अजीव ह और मै ज्ञाता द्रव्य हू फिर म उनमें क्यो लुभाया जा रहा हू ँ। हम सबको तो यह चाहिये कि सभी सभीसे निपटकर अपने आत्माके स्वरूप अपने ही चैतन्य भावमें विश्राम करें। लोक में भी तो ऐसा ही हमलोग किया करते ह। जैसे कोई एक जयपुर निवासी विदेशमें देशाटनको गया, कई दिनो बाद जब वह लौटता है तो कोई व्यक्ति उससे पूछता है कि भैया ! कहा जारहे हो ? उत्तर मिलता ह कि भारत जा रहाहू ँ। जब वह भारतके ब दरगाहपर उतरता हैं तो लोग पूछते हैं कि भैया ! कहा जा रहे हो ? वह कहता है राजपूताना जारहा

होता है ना–ते–दारी अर्थात् 'ना' माने नहीं, 'ते' माने तेरी, और "दारी" माने सम्बन्ध। अर्थात् तुम्हारा किसीसे कुछ सम्बन्ध नहीं है, ऐसी मान्यताको नातेदारी कहते ह।

काश! यदि यह आजकी विरक्त बुद्धि बचपनमें होती, तो कितना उत्कर्ष होता? अबभी कुछ नहीं बिगडा है। आज भी अच्छी तरह भेद विज्ञान करके अपने लक्ष्य पर आ जाना चाहिए। वैराग्यपूर्ण अल्पायुका होनाभी श्रेष्ठ है पर रागद्वेषपूर्ण दीर्घायुका पाना श्रेष्ठ नहीं। भेद–विज्ञानका आश्रय तो लो! कल्याणका अनन्तपथ आपके चरण चिह्नोंसे सुशोभित होनेके लिये उत्सुक होगा।

प्रत्येक द्रव्य अपना स्वयं स्वामी है—

वास्तविक नातेदारी बनाये रखनेके लिये स्त्री, पुत्र, मित्रादिसे अपनेको हटाओ और फिर क्रमश शरीरसे आत्म बुद्धिको भी दूर करो तथा फिर अपने-को रागद्वेषादिसे पृथक ज्ञायक भावरूप समझो और तदन्तर क्षायोपशमिक ज्ञान रूपभी हम नहीं हैं, ऐसा निश्चय करो तथा अपनेको उससे भी जुदा समझो फिर आप कहेंगे कि केवल ज्ञानरूप तो हूँ। सो भैया! वह केवल ज्ञान मेरे स्वभावके अनुकूल हो तो

परिणमन है, परन्तु वह स्वभाव नहीं है, क्योंकि स्वभाव अनादि अनन्त होता है। इस प्रकार सबसे लक्ष्य हटाकर अपने शुद्ध चैतन्य भाव रूप अपने आरामके कमरेमें प्रवेश करो। अपने शुद्ध चैतन्य भावको जाने बिना मिथ्यात्वी विषय-व्यामोहके कारण स्व भवनसे निकलकर कितनी ही दूर चला गया किन्तु वापिसीमें सोचता है कि अरे! इस बाह्य कूड़ा ककटमें कैसा फँस गया? बाह्य पदार्थ नोकर्म अवश्य है पर मैं अपनी विकल्प बुद्धिसे ही परमें फँसता हूँ। जिसकी स्व में दृष्टि है वे सम्यग्दृष्टि है और जिनकी घर्साटे करोडोंमें दृष्टि है वे स्वात्ममार्गसे च्युत हैं।

जगत में जितने भी पदार्थ हैं उनमें से न कोई किसीका रक्षक ही है और न संहारक। वे स्वयं के ही रक्षक और संहारक हैं। एक कथा है कि एक मुनि एक निर्जन वनमें तपस्या कर रहे थे कि इतने में एक सम्राट वहाँ पहुँचा। उसने पूछा हे साधो! तुम इस नवीन वयमें क्यों इस घोर वनमें कठिन तपस्या कर रहे हो? मैं अनाथ हूँ उत्तर मिला। सम्राट पुनः बोला—यदि तुम्हारा कोई नाथ नहीं है तो चलो मैं तुम्हारा नाथ हूँ और तुम्हारी सर्व प्रकारेण

रक्षा करूँगा। साधु ने प्रश्न किया– तुम कौन हो? मैं इस देश का राजा हूँ। मेरे पास सर्व प्रकार की सुख सामग्री एवं भोगोपभोगकी वस्तुएँ विद्यमान है, चलो! मेरे साथ चलो! राजाने सहानुभूति बतलाते हुये कहा। साधु बोला–किसी समय तो मैं ऐसा ही था, मेरे पास भी सभी प्रकार का वैभव था। यह सुनकर सम्राटको आश्चर्य हुआ और उत्सुकता पूर्वक पूछा फिर छोड़कर क्यों चले आये? साधुने अपनी व्यथा सुनाई–एक बार मेरा भयंकर शिर दर्द हुआ। राजवैद्यों ने बड़े बड़े उपचार किये, किन्तु किसी भी प्रकार कम नहीं हुआ। सहस्रों प्रयत्न करनेपर भी मेरे कुटुम्बीजन लेश मात्रभी मेरे कष्टको न बटा सके। तब मेरा अन्तर्चेतन बोला–अरे! संसार में तेरा कोई नहीं है–यह नातेदारी और रिश्तेदारी सब असत्य है और मिथ्या है–अतः मैं तो अनाथ हूँ। बस ऐसा बोध जागृत होते ही मैं साधु बन गया और इस बनमें रहकर अपने दुखके कारणों की इति श्री करने में लगा हुआ हूँ। सम्राट साधुका उत्तर सुनकर मौन रहा और अपने नगरको चला गया। संसारका प्रत्येक प्राणी मुनिके समान ही अनाथ है। जब यह प्राणी अपनेको अनाथ समझकर

परसे दृष्टिको हटाकर स्वमें रत हो जाता है तभीसे वह सनाथ बन जाता है क्योंकि वह जान लेता है कि म मेरा ही स्वामी हूँ।

भौतिक साधना ही दुखका कारण है—

तुम्हारे साथ अनेक प्रकारकी बाह्य विपदायें भी लगी हुई हैं। आपको कैसे विषय कषायोंके लोलुपी वातावरणमें रहना पड रहा है। जो परिग्रहमें व्यासक्त हैं, आडम्बर वाले है, उनमें रहनेका अवसर आ गया है फलस्वरूप इच्छाएँ और इच्छाओंके कारण पुन आवश्यक्ताएँ बढती जा रही हैं। एक ग्राम निवासी जिसने मिठाई नहीं चखी, जिसे सौन्दय पूण वस्त्रोंसे प्रयोजन नहीं, जिसने शहरके आडम्बरमें परिचय नहीं नही किया ऐसे व्यक्तिके तृष्णा भी नहीं, व्याकुलता भी नहीं। जब शहरमें आया मिठाई खाई, रईसोकी मोटरें देखी कि इच्छा बढी और बीमार पड गया ईर्ष्यासे। अत जीवनमें अशात हो गया। हमारे बिगाडका कारण कुसग है, विषय कषायोसे भरा वातावरण है। किन्तु भगवान कुन्द-कुन्द ऐसे दूषित वातावरणसे दूर थे, बहुत दूर थे। वे आध्यात्मिक ज्ञान साधनामें सलग्न थे। उन्होने मोक्ष लक्ष्मीको ही उपादेय निश्चित किया। वह मोक्ष लक्ष्मी

परमेष्ठिप्रसादोपजय्या" अर्थात् भगवान पच परमेष्ठीके प्रसादसे उपजन्य है। जो जिसकी भक्ति करता है वह उसके उपास्यके अनुरूप हो ही जाता है। वास्तवमें रागके समयमें इतना जरूर है मन्दराग की भक्ति अन्य जातिकी है और तीव्र रागकी भक्ति अन्य जातिकी। अत मैं तो यही मानता हूँ कि यहा जितने मनुष्य हैं वे सभी भक्त है, पुजारी है। भेद केवल यही है कि यदि कोई धनका भक्त है तो कोई स्त्रीका और कोई भगवानका। किसीका चित्त स्त्री पुत्रादिकी सेवा सुश्रूषामें लगा है तो किसीका मुक्ति लक्ष्मीकी आराधना में। श्री कुन्दकुन्दाचार्य सच्चे भक्त थे–इसी कारण उन्होंने मोक्ष लक्ष्मीको ही उपादेय रूपसे माना और उसे पचपरमेष्ठीके प्रसादसे उपजन्य समझकर वे पचपरमेष्ठीके आश्रयसे अपने स्वरूपमें लीन होते थे। देखो ! कहाँ तो उनकी स्थिति और कहा हम लोगो की ? इतना जीवन खोया, किसमें चित्त था ? किसकी भक्तिमें लीन रहे ? उस भक्ति से क्या शान्ति पाई ? कुछ नहीं, पाई अशान्ति और बारम्बार उसी अशान्ति का कडुवा घूट शान्ति समझकर पी गये परन्तु कभी मुक्तिका उपाय न सोचा, न विचारा।

लोग कहेगे कि यदि सभी विरागपूर्ण जीवन

यापन करने लगें तो ससार कैसे चलेगा ? मानो दुनियाँका उन्होने ठेका ले रखा हो। जैसे मुक्तिमार्ग चलते हुएभी दुनियाँ अभी तक चलती रही तथैव भविष्यमें भी चलती रहेगी। भैया ! तुम दुनियाँकी चिता न करो, चिता करो ! अपने आत्म-कल्याण की, जिससे सहज आनन्द रूप शाश्वत परम धामको प्राप्त होओ अपनेपर लक्ष्य रखो, परको लक्ष्य मत बनाओ। यही स्वाधीन होनेका प्रशस्त माग है।

घरमें जाकर स्त्री, पुत्र, मित्रादिसे राग कथाएँतो वहुत कीं, अब उस पुरातन शैलीको बदलकर वैराग्य कथाएँ करो।जिससे तुम्हारा भी धर्म सधे और श्रोता का भी। वीतराग कथा ही सत्कथा है। उसके सुने बिना तुम्हें सुख शाति न मिल सकेगी।

मोक्ष की परिभाषा —

अब कहते ह कि वह मोक्ष लक्ष्मी कैसी है ? "परमाथसत्याम्, अक्षयाम्" अर्थात् वह मोक्ष लक्ष्मी परमाथ सत्य है और अविनाशी है क्योकि वह परम पवित्र है, शुद्ध है और केवल निज स्वरूप है। अंग्रेजी-में शुद्धको Pure कहते ह जिसका तात्पर्य खालिस से है अर्थात् पर सम्बन्धके अभावका नाम ही शुद्ध है। कल्पना [illegible] चौकी पर (सामने रखी चौकी

करोका शासन" कहलाता है। विदेहोमें भी सीमन्धरादि २० तीथकर आज वत्तमान है, पर उन्हें इस नामसे न कहकर विद्यमान बीस तीर्थंकरोंके नामसे पुकारा जाता है। वे आज विद्यमान अवश्य हैं पर यहाँ उनका शासन प्रवत्तमान नहीं है।

यहाँ पुन प्रश्न उठता है कि जब यहाँ चौबीस तीर्थंकरोंका शासन प्रवत्तमान है तो "ऋषभपुरसरान्" ऐसा क्यो नही कहा ? इसका उत्तर यह है कि सभवत श्रा० श्री कुन्दकुन्ददेव ने 'पश्चादनुपूर्वी' की अपेक्षा उक्त कथन किया है। किसी बातको व्यवस्थित ढगसे कथन करनेको आनुपूर्वी कहते है। वह आनुपूर्वी तीन प्रकार की होती है। पूर्वानुपूर्वी, पश्चादनुपूर्वी और यथातथानुपूर्वी।

जैसे एक-दो-तीन से लेकर १०० तक क्रमश कथन करनेको पूर्वानुपूर्वी कहते हैं। सौ निन्यानवे आदिसे लेकर एक तक विपरीत क्रमसे गिननेको पश्चादनुपूर्वी और १०, १५, २०, ५०, ४०, ३० आदिका उच्चारण अनुलोम या विलोम क्रमसे करनेको यथातथानुपूर्वी कहते है। इन तीनोमें से प्रकृत नमस्कार पश्चादनुपूर्वीसे किया गया समझना चाहिए। दूसरी बात यहभी है कि परम्परासे तीर्थ

आ तो रहा है किन्तु बीच-बीचमें कितने ही बार शिथिलता आगई थी। आजका यह वतमान तीर्थ भगवान द्वारा प्रकाशित है। भगवान महावीर वतमानमें तीथप्रवतनके साक्षात् कारण ह, अत ग्रन्थकारने उनको सवप्रथम स्मरण किया है। सत्पुरुष कृतज्ञतासे परिपूण होते ह, अत जिनके वतमान तीथसे भव्य जीवोंका उद्धार हुआ है, उनका स्मरण करना कृतज्ञता-द्योतक ही है।

मङ्गलाचरण करने का प्रयोजन —

"भगवत पचपरमेष्ठिन" इस पदका यह अथ है —

"परमे उत्कृष्टे पदे तिष्ठोतीति परमेष्ठी" अर्थात् जो परमपदमें अवस्थित ह, रहते ह, वे परमेष्ठी हैं। भगवान अरहन्त परमेष्ठी ह क्योंकि वे घातिचतुष्कके अभावसे उत्पन्न हुये अनन्तज्ञान, अनन्तदशन, अनन्तसुख और अनन्त वीयरूप परम पदमें रहते हैं। सिद्ध भगवान भी परमेष्ठी ह क्योंकि वे द्रव्यकम, भावकर्म और नोकम रूप तीनो प्रकारके कर्म मलोसे रहित शुद्ध सिद्धावस्थारूप परम पदमें रहते हैं। आचाय महाराज भी परमेष्ठी हैं क्योंकि वे भी अपनी तपस्या, त्याग, तेजस्विता आदिके साथ-साथ शुद्ध चारित्रका पालन करते हुये अन्य भव्य जीवोको भी उनका परि-

ससुरो नही मानती" । इन दोनो उक्तियोमें भेद कर रखा है । ज्ञात होता है कि अनुभव कर्ता भी अपनी दृष्टीमें शरीर और कषाय भी भिन्न-भिन्न ही है, मानता है । सम्यक्त्वी निजको रागी न समझकर व्यक्तिरूप तत्त्वमें भेद मानता है स्वभावमें नहीं ।

सिद्ध भगवान सनातन है । "सना-सवकाल तनोति व्याप्नोतीति सनातन" अर्थात् चिरकाल तक अपने एक स्वरूपसे अवस्थित ह । म भी अपने चैतन्य भावकी अपेक्षा सदा चेतन ही हूँ, कभी अचेतन नहो हो सकता । भगवान् ! आप शान्त है क्योकि सब विकल्प जाल आपके शान्त हो चुके ह । म यद्यपि सकल्प विकल्पोंसे भरा नजर आता हू तथापि मेरा आत्मा सबसे परे है, शान्त स्वरूप है । यदि स्वभावमें अशान्तिका प्रदेश हो जाय, तो वह कभी नहीं निकले । स्वभाव दृष्टिसे देखो—ये विभाव पर्यायें अशान्ति आदिक जलमें तलके समान ऊपर ही ऊपर तैर रही ह, उनका अन्त प्रवेश नहीं है ।

द्रव्यदृष्टि से भक्त और भगवान में समानता—

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, इन चारो की अपेक्षा हे भगवान ! आप निरश है । उनमें कहीं कोई अशपना नहीं ह । द्रव्यकी अपेक्षा आप निरश

अखण्ड चिन्मय पिण्ड है। मै भी द्रव्यकी अपेक्षा निरश हूँ, मेरे में भी कोई अश या खण्ड नहीं है।

ससारमें धर्म ही महान है, वह भवसागर [illegible] लिये दृढ़ सेतु है। धर्म शून्य जीवन, जीवन [illegible]। जब तक जीवनमें धर्म क्रियान्वित नहीं होता [illegible] मनुष्य का जीवन गर्भवास ही समझना [illegible]। वास्तवमें जीवन का प्रारम्भ होता है धार्मिक [illegible], आत्म विश्वास एव आत्म-विकास होने पर। [illegible] एव पारलौकिक जीवन सुखी एव [illegible] लिये शुभ क्रियाओ द्वारा पुण्य बन्ध [illegible] है—वह आपके जीवन पथमें पाथेयका [illegible] गुण की अपेक्षा शुद्ध सदा महान और [illegible] है। द्रव्य दृष्टिसे भक्त और भगवान [illegible]—

क्षेत्रकी अपेक्षा सिद्ध भगवान असख्यात प्रदेशी है तो मै भी असख्यात प्रदेशी हूँ। असख्यात प्रदेशी होने पर भी सिद्ध भगवान या मेरा आत्मामें कोई अश या खण्डरूप विभाग नहीं है कि अमुक स्थान पर ज्ञान गुण है और अमुक स्थान पर दर्शन गुण है। अत उस अपेक्षा दोनों [illegible] है। दोनोंके [illegible] सर्वगुण तिलमें तलके समान व्याप्त है।

मतलब उस पर्यायसे है, जो एक क्षणभावी है। एक क्षणभावी पर्याय निरश ही होती है परन्तु मैं कालकी अपेक्षा साश हूँ, क्योंकि सकषाय हूँ। एक क्षणवर्ती कषाय-पर्यायोमें भी अविभाग प्रतिच्छेदोका अन्तर रहता है। भावकी अपेक्षा भी आप निरश है क्योंकि सामान्य तत्त्वरूप भाव एक स्वरूप होता है। उसी प्रकार मैं भी निरश हूँ। इस प्रकार भक्तकी दृष्टि निजपर और अपने आराध्य दोनोपर जाती है। सच्चा भक्त दोनोकी समानतापर दृष्टि देता है। यहाँ काल पर्यायकी अपेक्षा भक्त और भगवानमें भेद सिद्ध होता है।

तत्त्व प्रतिपादनके चार प्रकार —

जिज्ञासु —जीव तत्त्व और जीव पदार्थमें क्या अन्तर है ?

समाधान —यहा पर उक्त जीव तत्त्व और जीव पदार्थमें ही नहीं किन्तु जीव तत्त्व, जीव पदार्थ, जीवास्तिकाय और जीव द्रव्य इन चारका अन्तर बतलाया जाता है।

देखो भैया ! (काच का गोला हाथमें लेकर) यह हाथमें वस्तु है। इसे हम चार दृष्टियोसे देख सकते है, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। यहाँ द्रव्यका

तात्पर्य एक पिण्डसे है। अत द्रव्यकी दृष्टिके जैसा यह पूर्ण ज्ञात हो रहा है, वैसा है। इसे हम इससे अधिक और किसी विशेषतासे नहीं कह सकते, क्योंकि, कुछ विशेषता कही कि क्षेत्र, काल और भाव इन तीनोमेंसे किसी न किसी की अपेक्षा आ जाती है। अत द्रव्यसे तो यह काचका गोला यह है। यदि इसका क्षेत्रकी अपेक्षासे वर्णन किया जाय तो यह कहा जायगा कि यह गोला है या चपटा है। कालकी अपेक्षा से देखो तो यह पुराना है, हरा है आदि बातें कही जायगी। भावकी दृष्टिसे देखनेपर इसमें जो अनाद्य-नत स्थायीरूप रसादि भाव है वे ही ज्ञानगम्य होते हैं। इस तरह जैसे हम इसे चार दृष्टियोसे देखते हैं उसी तरह जीवको चार दृष्टियोसे देखनेसे जीव पदार्थ, जीवास्तिकाय, जीवद्रव्य और जीव तत्त्व ये चार सिद्ध हो जाते है। जब हम अनन्त गुणाके पिण्ड रूपसे देखते है तब यह जीव पदार्थ है क्योंकि "पदस्य अर्थः पदार्थ" जो पदका वाच्य है, वही पदार्थ कहलाता है। क्षेत्रकी अपेक्षा बहुत प्रदेशी होनेसे जीवास्तिकाय संज्ञा दी गई है। कालकी अपेक्षा तीनो कालमें वर्तमान होनेसे जीव द्रव्य है, क्योंकि द्रव्यका लक्षण "अदुद्रवत्, द्रवति द्रोस्यतीति द्रव्यम्" कहा है। अर्थात्

भूतकालमें जो पर्यायोको प्राप्त करता रहा, वतमानमें कर रहा है और भविष्यमें करेगा, वह द्रव्य कहलाता है। भावकी अपेक्षा अनाद्यनन्त चैतन्यमात्र जीव, अथवा जिस गुण पर दृष्टि देवें, उस गुण मात्र जीव है। यहा भाव दृष्टिगत है, इसलिये भावकी अपेक्षा "जीवतत्त्व" है तत्वका लक्षणभी "तस्य भाव तत्त्वम्" कहा गया है। इस प्रकार चारो अपेक्षाओंसे उक्त चारो नामोंकी साथकता सिद्ध हो जाती है और यही इन चारोमें अन्तर है। इन चारों अपेक्षाओंसे वर्णन किये बिना वस्तुका सर्वागीण प्रतिपादन नहीं हो सकता।

निरामय, निर्भय, नियत, हस—

सिद्ध भगवान निरामय है। आमय नाम रोगका है सिद्ध भगवान शारीरिक मानसिक आदि समस्त प्रकारके रोगोंसे विमुक्त हो चुके हैं। वे निर्भय हैं क्योंकि वे सब प्रकारके भयोंसे विमुक्त हैं। वे सर्व मलो से रहित हैं अतएव निर्मल हैं। आप परम हस हैं। जैसे हस का धवल श्वेत वर्ण होता है वैसे ही सब कर्म कालिमा दूर हो जानेसे आप हसके समान होकर भी परम हस हैं। मैं भी परम हस हूँ। परम हसका पदच्छेद है—"परम्+अह+स" पर नाम

बाह्य पदार्थों का है, परमें जिसकी दृष्टि हो ऐसे बहिरात्माको पर कहते हैं। अह नाम अपने भीतर विद्यमान अन्तरात्मा है। "स" का अर्थ वह है। यहाँ 'वह' का अर्थ परमात्मासे है। इस निरुक्तिका समुदायार्थ हुआ "मैं भूतकाल की अपेक्षा बहिरात्मा हूँ वर्तमानकी अपेक्षा अन्तरात्मा हूँ और भविष्यकालकी अपेक्षा परमात्मा हूँ। इस प्रकार जितनेभी जीव हैं, वे सब तीनो तत्त्वोंको लिये हुये है। केवल अभव्योंमें बहिरात्मत्व ही होता है, दो तत्त्व नहीं होते। पर वे भी शक्तिसे तीनो तत्त्वकर सहित है, क्योंकि वे भी चेतन द्रव्य हैं।

भगवन्! तुमभी अनन्तकाल तक मेरे समान भटके थे। आज आपमें भी तीनो तत्त्व समाविष्ट है। भूतकालकी अपेक्षा आप बहिरात्मा और अन्तरात्मा हैं तथा वर्तमानकी अपेक्षा परमात्मा है ही।

हंस जैसे स्वयं स्वच्छ होता है, स्वतन्त्र विहारी और मानसरोवर वासी होता है उसी प्रकार आपभी स्वच्छ है, स्वतन्त्र है, अनन्त ज्ञेयको स्वयं जाननेके कारण स्वतन्त्र विहारी है तथा सिद्धालयके निवासी हैं।

इस प्रकारके स्वरूप वाले पचपरमेष्ठियोको भी प्रणमन और वन्दन करते हैं।

तक तिर नहीं सकोगे। ऐसा सुनकर सामान्य जनोंकी भक्ति तो बढती है, पर जो पहुँचे हुए व्यक्ति होते हैं, उसकी भक्ति करते करते भक्ति छूट जाती है।

किसी के कर्ता मत बनो —

कोई किसीका कुछ नहीं करता, मात्र अपनी ही चेष्टा किया करता है, किन्तु हम परकी दृष्टि रखकर मानते है यह ही हमारा सुखदाता है और यही हमारा दुःखकारी है, मैंने इसको पाला और मैंने इसका उपकार किया, ऐसा मानना अज्ञान है। जहाँ स्वभाव के विरुद्ध कर्तृत्व बुद्धि आई कि अनेकानेक दुःखोंका सामना करना पडा। सुख कर्ता बनने में नहीं, ज्ञाता द्रष्टा बनने में है। अतः सदा ज्ञाता द्रष्टा ही बने रहो —

एक रामू नामका लडका था, वह कहीं घोडे पर सवार होकर गया। रास्तेमें शाम हो गई और एक जुलाहेकी पत्नीसे पूछकर उसके यहाँ ठहर गया तथा परिचयमें उसने अपना नाम बतलाया 'तू ही तो था'। शामको भोजन सामग्री लेने पासके बनिये के पास गया और बोला कि पैसे मैं सवेरे दूंगा, तथा पूछने पर उसे अपना नाम 'मैं था' बतलाया। उसने रात को भोजन पकाया और आलस्यवश पानी वगैरह

उसने बाहर न फेंक कर कोठे में ही रूई पर डाल दिया। सबेरा हुआ और रामू चल दिया। जब जुलाहा घर आया और रूई गीली देखी तो उसने पूछा–यह रुई खराब किसने की ? यहाँ रात को कौन ठहरा था। पत्नी ने कहा "तू ही तो था"। अरी ठीक ठीक क्यों नहीं बताती जुलाहा क्रोधित होकर बोला। पत्नी बोली–मै सच कहती हूँ यहाँ जो रात को ठहरा था वह 'तूही तो था'। जुलाहेको क्रोध आया और उसने स्त्रीको पीटना शुरूकर दिया। बनिया उसे पिटता न देख सका और वस्तु स्थिति समझकर बोला यहा जो रात को ठहरा था वह 'मै था' तुम उसे क्यो पीटते हो। जुलाहा बोला–तू था, तो तू आ जा और जलाहे ने उसे डण्डे मारना शुरु कर दिये। वसे ही भया ! जो बीचमें किसीका कर्ता धरता बनता है तो उस पर भी विभाव के डण्डे पड़ते ह। यदि बनिया वह सब कुछ जानता और विवेकसे समझाता तो उसे मार न खाना पढती– उसी प्रकार यदि तुम भी ज्ञाता द्रष्टा बन रहो तो तुम्हे भी विभावके डण्डे नही खाना पढते। किन्तु भैया ! सोचते तो यही हो कि मै पुत्री स्त्री एव माता पिता की सहायता करता हूँ या वे मेरी सहायता करते हैं। बस भैया ! यही बुद्धि तो कष्ट

प्रदायिनी है, और ससार बढाने वाली है।

यहाँ के अनुभवो को भी देख लो। जब तक बालक अकेला स्वतन्त्र रहता है तब निमलतासे बना रहता है, खुश रहता है। इसका वाह्य स्थूल कारण है कि---

जब अवस्था कम होती है तब आत्मा में निदोषता एव पवित्रता रहती है। किन्तु जब लडके की शादी हो जाती है तब उसम मायाचारी आ जाती है और वह विविध मायादि पूण चेष्टाए करता है। कारण यह हुआ कि स्वामित्व बुद्धि आई उसके मन में। परन्तु भया उसकी भयशील क्रियायें यह ही तो प्रभावित कर रही ह कि यह पाप ही है। पापाचार से दूर रहकर निज पवित्र स्वभावको देखो यही शाति का माग है।

धम ही जीवन है---

इस प्रकार पचपरमेष्ठी और वतमान तीर्थंकरों को भली भाति आदर करके, इतना आदर कि यह उनके ही रूप हो जाय। अब ग्रथकार-ग्रथ आरम्भ करनेकी प्रतिज्ञा करते ह---"सर्वारम्भेण" अर्थात् पूण रूपसे तैयारी करके ग्रथका प्रारम्भ करते हैं। जहा मल्ल युद्धका खास आयोजन चल रहा हो, वहाँ

कोई लडने वाला मल्ल यह भाव नहीं रखता कि मैं पहिले सामान्य रूपसे लडूंगा, फिर विशेष रूपसे लडूंगा। इसी प्रकार ज्ञायक भाव रूप धर्म तत्त्वका अवलोकन कर लेने वाला सब आरम्भसे यथा शीघ्र धर्मोपार्जन के लिये उद्यमी होता है वह तो धर्मको ही अपना जीवन समझता है।

भैया ! एक सेठजी थे। उनके यहाँ १० बजे भोजन वेलामें एक नव वयस्क-साधु आहारार्थ गये आहार करने के बाद धर्मोपदेशके लिये बैठे कि इतने में सेठकी पुत्र वधूने पूछा-महाराज ! आप सबेरे क्यों आगये ? साधू बोले-मुझे समयकी खबर नहीं थी। साधुने पूछा-बेटी ! तेरी उम्र क्या है ? वह बोली-मेरी उम्र चार वर्ष की है।

साधु-तेरे पतिकी उम्र क्या है ?

पुत्रबधू-मेरे पतिकी उम्र चार मास की है।

साधु-ससुरकी उम्र क्या है ?

पुत्रबधू-अभी मेरे ससुरजी तो पैदा नहीं हुए।

साधु-बेटी ! तुम ताजा खाती हो या बासी ?

पुत्रबधू-महाराज ! अभी तक तो बासी ही खाती हूँ।

सेठजी इन अटपटे प्रश्नोत्तरोंको सुनकर बडे

हैरान एव आश्चर्य चकित हुये क्योकि साधु तो ठीक समय पर ही आये थे और उनसे पूछा गया यह कि तुम इतने सबेरे क्यो आये ? उस सम्बन्धी प्रश्नोत्तर तो सारेके सारे ही अटपटे है और यह प्रतिदिन ताजा भोजन भी करती हे और साधुसे कहती है कि बासी खाती हूँ। साधुजी तो आहारसे चल दिये किन्तु प्रश्नोत्तरोको जाननेकी लालसासे सेठजी को चन न थी जाकर पुत्र वधूसे पूछने और कहने लगे। तूने तो आज मेरे घरको लुटिया डुबो दी। पुत्र बधू समझ गई कि ससुरजीने हम लोगोकी बातोका अभिप्राय नहीं समझा। अत बोली—ससुरजी ! साधुजीके पासमें ही चलकर समाधान कर लिया जाय। दोना वहा पहुँचे। सेठजीने पूछा महाराज ! आपके एव मेरी पुत्र बधूके बीचमें हुई वार्तालापका क्या अर्थ है ?

धमश्रद्धा होने पर जीवनका प्रारम्भ —

साधु बोले—देखो ! इसने मुझसे पूछा था कि इतने सबेरे क्यो आये ? इस प्रश्नका तात्पर्य था कि मैं इतनी अल्पायुमें दीक्षित क्यो हो गया ? मने इसका उत्तर दिया था कि समय की खबर न थी। इसका अभिप्राय यह था कि मुझे अपनी आयुका पता नही

घर चले गये। ठीक है, आत्मश्रद्धा विना जीवन व्यर्थ है।

रे मूढ ! तू आत्माकी खोजमें निकला है ? जिज्ञासु है उसका ! किन्तु वह तुझे यहाँ बाह्य जगत्में कहा मिलेगी ? स्वय अनन्तगुण युक्त आत्मा तुझमें विद्यमान होते हुए भी अज्ञानवश तू उसकी खोज कर रहा है– अत उपहासका पात्र है। यह तो 'पानीमें मीन प्यासी, मोहि सुन-सुन आवे हाँसी' के समान' बात होगी। तू आत्माकी खोज कर स्वयमें, उसका एक बार साक्षात्कार हो जानेपर फिर सदाके लिये सुखी हो जायगा। जिससे तू चेतन है, ज्ञानमय, दर्शनमय कहलाता है, ज्ञान, ध्यान एव तपादि तपता है और जिसकी स्वतन्त्र तथा निश्चल दशा मोक्ष प्रदायी है। वही आत्मा है तू उसका स्वामी सदासे रहा है, पर उसका अनुभव प्राप्त न कर सका। आत्मानुभवन गूँगेके द्वारा खाई गई शक्करके सदृश उसके ही द्वारा सवेद्य है, उसके सवेदनका वचनोंसे वर्णन नही किया जा सकता।

विरागी विषयो में लिप्त नही होते–

इस कथाका अभिप्राय यही है कि जबतक मनुष्यकी धार्मिक श्रद्धा नहीं जगी तब तक वह गर्भ में ही है, जन्मा नहीं है और तब तक वह नवीन पुण्य-

उपार्जित नहीं करता है वासी ही खा रहा है । यदि धर्म शून्य जीवनको ही जीवन माना जाय तो फिर केवल इसी भवकी उम्रको ही क्यों बताया जाय ? अनादिसे ही हम लोग धर्म शून्य जीवन बिताते आ रहे हैं तब यही कहना चाहिए कि हमारी उम्र अनन्त कालकी है ।

भ० कुन्दकुन्दाचार्य जी ११ वर्षकी अल्पायुमें दीक्षित हुये थे । जिनके हृदयमें वैराग्य जग जाता है, संवेग उत्पन्न हो जाता है, वे विषय कषायोंके कर्दममें लिप्त नहीं रह सकते । जब और जिस अवस्थामें यह बोध उत्पन्न हो जाता है, तभी मनुष्यका मोह दूर हो जाता है ।

अब आगे ग्रन्थका प्रारम्भ होगा इसके पहिले श्री परमपूज्य सूरिअमृतचन्द्र जी कहते हैं—

सर्वारम्भेण मोक्षमार्गं सम्प्रतिपद्यमानः प्रतिजानीते ।

तात्पर्य यह है कि आसन्न निकट भव्य, भेद-विज्ञानसे ओत प्रोत, एकान्तवादसे हठाग्रहसे दूर, पक्ष परिग्रहसे रहित, मध्यस्थ, मोक्ष तत्त्वके दृढनिश्चयी भगवान् श्री कुन्दकुन्दाचार्य श्री वर्द्धमान भगवानको आगे करके समस्त पञ्च परमेष्ठियोंको द्रव्य भाव नमस्कारसे बहुमान करते हुये ग्रन्थ क्या बनाते हैं—साम्यभावको

प्रतिज्ञा करते ह ।

अब श्री कुंदकुन्दाचार्यजी की वाणो मगलाचरण पूर्वक प्रारम्भ होती है –

एस सुरासुरमणुसिदवंदिद धोदघाइकम्ममल ।
पणमामि वड्ढमाण तित्थ धम्मस्स कत्तार ॥१॥

यह मैं, सुर, असुर और मनुष्योंके इन्द्रोंसे वंदित, धो दिया है घातियाकर्म रूप मलको जिसने और धर्मरूप तीर्थके कर्ता ऐसे वर्द्धमान स्वामीको प्रणाम करता हूँ ।

भेदविज्ञानकी पराकाष्ठा–

गाथामें प्रयुक्त 'यह' (एष) पद ग्रन्थ-रचयिता की ओर सकेत है और 'मैं' 'अहं' पदसे स्वसवेदन प्रत्यक्षकी ओर भाव व्यक्त किया गया है। यह ग्रन्थ भी रच रहे ह और स्वसवेदन भी कर रहे ह जसे कि मानो कोई लिखता भी जाता हो और वार्तालाप भी करता जाता हो।

व्याकरण शास्त्रमे भी इसका कुछ रहस्य खुलता है। यहाँ 'एष' यह अन्य पुरुषका कर्तृपद है और "प्रणमामि" उत्तम पुरुषका क्रियापद है। आप यह सोचेंगे कि किसी भी व्याकरणमें कर्ता क्रियाका वाक्यमें ऐसा मेल नहीं देखा जाता। किन्तु, होता यह है कि

जिसजिस पुरुष को क्रिया होती है उसीउसी पुरुषका कर्ता होता है। तब इसका समाधान क्या है? भाई! इसका समाधान यह है कि आचार्य अपने ही आत्माको प्रत्यक्ष करते हुये कह रहे हैं, इसलिये इसके बीचमें 'अह' लगाकर अर्थ होता है। स्वसंवेदन ज्ञानसे प्रत्यक्षीभूत, चैतन्य स्वरूप, परम पारिणामिक भावमय, स्वभाव पूर्ण यह मैं आत्मा वर्द्धमान स्वामीको नमस्कार करता हूँ। अहो! यह अद्‌भुत बात है। जो यह नमस्कार कर रहा है सो मैं नहीं हूँ। जिसे यह मैं आत्मा कहा गया, वह नमस्कार नहीं कर रहा, फिर भैया! यह ज्ञानी की लीला है। ध्रुव, त्रैकालिक, अकालिक, निर्विकल्प शुद्धतत्त्वभूत सत्य आत्माकी ओर लक्ष्य करनेवाले उसकी ओर उन्मुख होने वाले, परिणत होनेवाले गुरु ज्ञानी उस आरम्भके समय तीर्थ नायक श्री वर्धमान स्वामीके विषयमें बहु सम्मान भावसे कितने भरे हुए हैं कि सुध बुध रखते हुए भी सुध बुध भूल कर उच्च शुभ क्रिया कर रहे हैं।

स्वसंवेदन से आत्मा का प्रत्यक्षीकरण

वास्तवमें यह आत्मा स्वसंवेदन ज्ञानकेद्वारा ही प्रत्यक्ष होता है। कोई कहे—मुझे आत्मा दिखा दो।

तो उसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श नहीं, फिर उसे कैसे दिखाया जा सकता है ? जब यहां चतुर्थकाल था, साक्षात् केवलज्ञानी भी विद्यमान थे, तब भी वे किसीको हाथपर रखकर 'यह आत्मा है' ऐसा साक्षात् नहीं दिखा सकते थे। यह तो सबको स्वसंवेदनमें आ ही रहा है। दर्शन ज्ञानस्वरूप यह आत्मा है। मैं दर्शन ज्ञान सामान्य स्वरूप हूँ।

सामान्य और विशेष का स्वरूप

जिज्ञासा–यहां 'दर्शन ज्ञान विशेष स्वरूप हूँ' ऐसा क्यों नहीं कहा ?

समाधान–इसमें एक रहस्य है। पहिले सामान्य विशेषके स्वरूपको आमके दृष्टान्त द्वारा प्रगट किया जाता है। जैसे कोई आम अपनी प्रारम्भिक दशामें कैरी रूप था। अर्थात कुछ काले रंग को लिये हुए था। जब वह कुछ बड़ा हुआ तब उसका हरा रंग प्रगट हुआ। कुछ और बड़े होनेपर पीला रंग प्रगट हुआ और अन्तमें पूरा पक जानेपर लाल रंग प्रगट होता और अन्तमें पूरा पक जानेपर लाल रंग प्रगट हुआ है। तब यहां देखो। रूपके कितने रूप परिवर्तन हुए। जिसमें इन रूपविशेषोंके परिवर्तन हुए वही रूप सामान्य है और जो काले, हरे, पीले, लाल रूप

विभिन्न परिवर्तन हुए है, वे सब रूप विशेष है। यहाँ विचारो तो रूप विशेष तो सब की समझ में, देखनेमें आता है परन्तु रूप सामान्यका दर्शन नहीं होता। वह तो केवल(मात्र)ज्ञान द्वारा ही गम्य है। इसी प्रकार यह आत्माज्ञानसे कभी घट को जानता है, कभी पटको जानता है, तो इन घट पटादि ज्ञान विशेषोमें परिवर्तित होता रहता है। ये ज्ञानविशेषके परिवतन अस्थायी ह, क्षणभगुर ह। अत इन्हें आत्माका स्वरूप नही मान सकते। यदि इन ज्ञानविशेषोको आत्माका स्वरूप माना जायगा तो विविक्षित ज्ञान विशेषके अभाव होते ही आत्मा या ज्ञानका भी अभाव मानना पडेगा। ये ज्ञानविशेष आत्माकी पर्याय तो अवश्य ह, परन्तु उन विशेषोंके मात्र ही आत्मा नहीं है। तो फिर उन ज्ञानविशेषो में अन्वय या एक सन्तानरूपसे रहने वाला जो ज्ञान सामान्य है, वह त्रैकालिक है और वही आत्माका स्वरूप है। देखो! वालकसे वृद्धावस्थातक बदलने वाली क्या वस्तु है? जो बदलने वाली होकरके भी बनी रहती है, वह है मनुष्य उस खाली मनुष्यको किसीने नही देखा। जेम मनुष्योको देख रहा हूँ, वह केवल वाल, बद्ध, युवा आदि पर्यायो को ही देख रहा हूँ, मनुष्यत्व तो सबमें व्याप्त है।

वह मनुष्य तो केवल ज्ञानगम्य है।

मै ज्ञानविशेषोंमें चलता अवश्य हूँ, पर मैं ज्ञानविशेषरूप नहीं हूँ। यदि मैं ज्ञानविशेषरूप हो जाऊँ तो विवक्षित विशेष ज्ञानके समाप्त होनेके साथ ही मै भी नष्ट हो जाऊँगा—अत मैं ज्ञान सामान्यरूप हूँ। यह मै इन्द्रिय गम्य नहीं, किन्तु स्वसवेदन गम्य हूँ।

आत्माका अन्वेषण —

लोगोकी दृष्टि परपदार्थोंमें अटकी रहती है, कारण है कि उन्हे आत्माका ज्ञान नहीं होता। यदि परका लक्ष्य छोडकर—परको पर जानकर अपने स्वभाव रूप रहे, तो आत्मा हस्तगत ही तो है। आत्माका जानना कोई अधिक कठिन नहीं। एक वेदान्तकी कथा है कि कोई मनुष्य किसी वेदान्ती साधुके पास गया और पूछने लगा—महाराज ! आत्मा क्या वस्तु है ? वे बोले—भाई ! मेरा मित्र एक मगर है, अमुक सरोवरमें रहता है, उसके पास जाओ, वह तुम्हारे प्रश्नका उत्तर देगा और तुम्हे बतलायगा कि आत्मा क्या वस्तु है ? वह जिज्ञासु सरोवरपर पहुँचा और मगरको देखकर बोला—भाई मगर ! मुझे यह बतलाओ कि आत्मा क्या वस्तु है ? वह बोला—भाई !

मुझे बडे जोरसे प्यास लग रही है। तुम जाकर किसी कुएसे अपना लोटा भरकर लाओ और मुझे पहिले पानी पिला दो। पीछे मैं तुम्हारे प्रश्नका उत्तर दूँगा। आगतुक बोला—भाई ! तुम बडे मूख मालूम पडते हो जो पानीमें रहकर भी प्यासे हो। मगर बोला—और तुम मुझसे भी अधिक मूख हो जो तुम स्वय ही तो ज्ञानसे परिपूण हो और मुझसे पूछते हो कि आत्मा क्या वस्तु है ? अरे ! जो तुम पूछ रहे हो वही तो आत्मा है। जिसे यह जिज्ञासा हो रही है, जिसके भीतरसे जाननेका विकल्प उठ रहा है, जो मुझसे पूछ रहा है—वही तो आत्मा हे। आगन्तुक मगरका उत्तर सुन विस्मित हो गया और आत्म बोध पाकर प्रसन्न होता हुआ अपने घर चल दिया।

स्वका ज्ञान करो परका नहीं —

उक्त कथानकसे भी यही सिद्ध हुआ ह कि यह आत्मा स्वसवेदन प्रत्यक्ष गम्य ह। सवका सार यही है—'एक म आत्मा हूँ'। देखो ! व्याकरण शास्त्रके नियमसे 'अह' उत्ताम पुरुष है, 'त्वम' मध्यम पुरुष है और इन दोनो के अतिरिक्त शेष सब अन्य पुरुष ह। उसे अग्रेजी में क्रमश First Person, Second Person, और Third Person कहते हैं। उन व्याकरण प्रयोगो

से भी सिद्ध होता है कि केवल "म" तो फस्ट हूँ, और इस ही को–कम मलीमस अपने आपको जब समझाया जाता हे, तो उस समय 'तुम या तू' का लक्ष्यभूत उसी आत्माको सबोधनमें कहा जाता है––और मेरे अतिरिक्त जगतके जितने भी पदार्थ है वे सब थर्ड पसन (3rd Person) ह । भाई ! 3rd और 2nd Person में मोहको छोडकर 1st Pr on में ही रुचि करो अपनी आत्माको अपनेमें लगाओ। स्वयको समझे बिना परका सब ज्ञानभी व्यर्थ ह । जब तक परके ज्ञानका उदक्रम करते रहोगे, तब तक स्व बोध नहीं हो सकेगा।

गुण हि सवत्र पद निधीयते––

यहा श्री कुदकुदाचाय के 'एव' पदका भाव श्री अमृतचदसूरिने व्यक्त किया है कि 'दशन ज्ञान-सामाय आत्मा' ऐसा कहकर आत्माका वह परिचय दिया हे जिसके द्वारा एक दष्टिसे जिन प्रभुकी वदना करता है, उनकी तुलना हो जाती है। वह वदनाका अतरगसे अधिकारी क्या ? जो अपनेको पतित, दीन, हीन और नीच ही समझता हो। लोकमें भी ऐसा ही देखा जाता है। जब कोई व्यक्ति किसी राजासे या प्रतिष्ठित अधिकारीसे मिलने जाता है तो अपने

परिचय पत्र पर अपनी पदवी आदिका उल्लेख कर अपनी योग्यताका परिचय देता है, तभी राजा आदि उससे सम्मानके साथ मिलते हैं। यदि कोई अपने परिचय-पत्रमें यह परिचय देवे कि मैं दीन हूँ, गरीब हूँ, भिखारी हूँ तो उसके भेंट करनेकेलिए कभी भी राजादिकी ओरसे स्वीकृति नहीं मिलेगी। इसी प्रकार आ० श्री कुन्दकुन्दने भी गौरवपूर्ण शब्दोंमें भगवान महावीरको अपना परिचय दिया है मैं दर्शन-ज्ञान-सामान्य-स्वरूप आत्मा हूँ।

स्वभाव और विभाव—

आत्मशान्तिका उत्तम उपाय समाधि है। सर्व प्रकार के मानसिक, वाचनिक एवं कायिक विकल्पों को त्यागकर मात्र आत्म तत्त्वके निरीक्षण एवं परीक्षणमें संलग्न हो जाना, तथा उसमें तल्लीन होकर 'यह मेरा है और यह है दूसरे का' इत्यादि वैभाविक विकल्प जालोंकी उत्पत्ति ही न होने देना समाधि है। उस निर्विकल्पावस्थामें आत्मा ही हमारा ध्येय, आत्मा ही हमारा ध्यान और स्वयं आत्मा ही ध्याता होता है। यही अवस्था समाधिकी श्रेष्ठतमावस्था है और आत्माके विकासका श्रेष्ठतम साधन है।

सुरासुरवन्दित वर्धमान—

धोद घाइकम्ममल का स्पष्टीकरण—

अब द्वितीय विशेषण 'धोदघाइकम्ममल' (धौत-घाति कम-मल) का अथ प्रारम्भ होता है। धोडाला है घातिया कर्मोंके मलको, अथवा घातिया कम रूपी मलको धोया है जिन्होंने ऐसे श्री वर्धमान स्वामी ह। जो स्वभावगत नहीं होता वह धोनेसे धुल जाता है अर्थात् अपनेमे पृथक हो जाता है। जसे वस्त्रका मल जलसे धोनेपर छूट जाता है, पर वस्त्र का जो स्वाभाविक रूप ह वह धोनेपर कभी दूर नहीं हो सकता। यह घातिया कम रूप मल भी जीव का स्वभावगत मल नहीं है। इसलिये यह भी भेद विज्ञान रूपी जलसे धुल जाता है अर्थात् आत्मासे अलग हो जाता है। यहा विचारणीय बात यह है कि आत्मा द्रव्य कर्माको नहीं धोता क्योंकि वे परवस्तु ह और आत्मा पर वस्तुका नहीं है। अत आत्मा अपने राग द्वेष मोह आदि भाव कर्मोंको ही धोता है और भाव कर्मोंके धोनेसे आत्मासे सम्बद्ध द्रव्य कर्म अपने आप धुल जाते ह।

जिज्ञासा— आत्माके विभाव परिणाम धोनेसे कम कसे धुल जायगे ?

सामाधान—आत्माके विभाव परिणाम भी नैमित्तिक

होनेसे पर है, और जो पर ह, वे भेद–विज्ञानरूपी जलादिसे धुल जाते ह।

इसी बातको एक दृष्टान्तमे स्पष्ट किया जाता जाता है– जैसे एक दपण सामने ह और हरे रगका उसमें प्रतिविम्ब पडा तो यह प्रतिविम्ब किसका है? दपणका या सम्मुखस्यित हरित पदायका? यदि उसे दपणका माना जाय, तो उस हरे पदाय के दूर होनेपर भी प्रतिविम्बको हटना नहीं चाहिए। और यदि हरे पदायका माना जायतो सम्मुख स्थित घट पटादि किसीभी पदायमें उसका प्रतिविम्ब पडना चाहिए? पर ये दोनो ही बातें नहीं होती। अत उस प्रतिविम्बको न दोनोका कह सकते ह और न यही कह सकते ह कि यह दोनोका नहीं है। इसी प्रकार रागादि भाव किसके है? क्या आत्मा के ह? यदि ह तो सिद्धावस्थामें उनका अभाव क्यो? यदि कमके ह, तो उसे ही दुख भोगना चाहिए। कितु ऐसा भी प्रतिलक्षित नहीं होता। तब क्या है? निश्चित किसीका नहीं कहा जा सकता। इसीलिए तो विभिन्न मतवालोंमें से किसीने इस जगत को विवत रूप माना है और किसीने मायारूप। वास्तविक बात तो यह है कि वे रागादि विभाव

वाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन"। पर जनदर्शनके आचार्य कहते ह कि फलको इच्छा न होना और कार्य होना यह निष्काम कर्मयोग है। मोही जन निष्काम कर्मयोगकी बात करके भी कर्मयोग कहते ह। अत उनकी निष्काम परसे दृष्टि चली जाती है। यदि निष्कामका महत्त्व न माना जायगा तो सम्यक्त्वी की अपेक्षा मिथ्यात्वी अधिक सुखी सिद्ध होगा। देखो! सम्यक्त्वी जीव गोदमें बठे हुये बालकको खिलाता हुआ भी सासारिक और पारमार्थिक दोनो दृष्टियोंसे सुखी नहीं, पारमार्थिक दृष्टिसे तो इसलिये सुखी नहीं कि उसे भीतरसे यह दृढ निश्चय है कि यह न मेरा है और न मै इसका हूँ सो लोकरितिमें जैसा चाहिए करना चाहिए वैसा प्रेम वह बालकसे नहीं कर पाता। अत सासारिक दृष्टिसे भी सुखी नहीं। मिथ्यात्वीके कमसे कम एक सासारिक सुख तो है। क्या यह कथन ठीक है? नहीं! भले ही ससारमें लोगोको मिथ्यात्वी सुखी दिखाई दें, किन्तु वास्तवमें वह सुखी नहीं है। सम्यक्त्वी बाहरसे भले ही हम लोगोको दुखी दिखाई दे, पर यथार्थमें वह निष्कामताका आनन्द प्रतिक्षण ही ले रहा है इसलिए वह सदा सुखी है। सुख बाह्य पदार्थों से नहीं होता।

ज्ञानी के राग में राग नहीं—

कुत्ता हड्डी चबाता है, उसे उठाकर एकान्तमें ले जाता है, दूसरे कुत्तेको देखकर गुर्राता है और भौंकता है। इसी प्रकारकी बात परिग्रही व्यक्ति की भी है। वह धनाजनकर घर लाता है और गुप्त स्थान में गाडकर रखता है। यदि कोई उसे चुराने या लेने आता है तो वह लडता है और उसे मारकर भगाने का प्रयत्न करता है। धन वैभवकी मूर्छाका ऐसा ही स्वभाव है। जिनके बाह्य पदार्थों में मूर्छा लग रही है उन्हें कभी शान्ति नहीं मिल सकती। किंतु सम्यक्त्वी के इष्ट जनोंमें या प्रिय वस्तुओंमें अंतरगसे राग नहीं होता। उनको बीमारीके इलाजका राग तो रहता है पर इलाजके रागका राग नहीं होता।

बाह्य वस्तुएँ सुख दुख दाता नहीं—

एक रईस रोगी होता है तो उसको सुख पहुँचानेके लिए नाना प्रकारके साधन जुटाये जाते हैं। कमराका वातावरण शान्त रखा जाता है, ओढने बिछानेके वस्त्रादिक स्वच्छ रखे जाते हैं। बैठने-उठनेकेलिए बडी-बडी गदियां तकिया लगाई जाती हैं। कुशल, मधुभाषी एवं संकेतज्ञ सेवक परि-चारक उसकी सेवाकेलिए नियुक्त किये जाते हैं।

चाँदी-सोने आदिके पात्रों द्वारा उसे दवा खिलाई जाती है कुशल क्षेम पूछने वाले सदा आते रहते हैं। डाक्टर और वैद्य चारों ओरसे घेरे रहते है। लिखने का तात्पर्य यह है कि उसे जो भी ऊँचीसे ऊँची, बढ़ियासे बढ़िया सुख सुविधा पहुँचाई जा सकती है, पहुँचाई जाती है। तो क्या यह सब ठाट बाट देखकर कोई रोगी यह भावना करेगा कि मैं सदा बीमार बना रहूँ जिससे ये ठाट बाट ज्योंका त्यों बना रहे। इस प्रश्नका उत्तर होगा—नहीं ? कोई भी बीमार केवल बाह्य आडम्बरोंको सदा बनाये नहीं रखना चाहता। उसे केवल तभी तक उन्हें पास रखना चाहता है जब-तक कि उसका रोग दूर नहीं होता। किन्तु वह चाहे बीमार हो या स्वस्थ उसे बाह्य वस्तुओंसे इलाजके उपायों और दवाओंसे मोह—कभी नहीं होता।

चाह सदा अतृप्त रहती है—

क्या किया जाय ? संसारका धन्दा ही ऐसा है कि जब जिस चीजकी चाह होती है, तब वह नहीं मिलती और जब वह मिलती है तब उसकी चाह नहीं रहती। एक उदाहरण है—एक भंगी की ड्यूटी रोज महलके इर्द-गिर्द झाड़नेकी थी झाड़ते-झाड़ते उसे अकस्मात रानीके महलके झरोखेके नीचेसे उड़ती

वायुमें सुगंधि मालूम हुई। जाकर देखता है तो रानीका तत्काल उगला हुआ पान पडा है और उसकी सुगन्धिके लोलुप भ्रमर उस पर मडरा रहे है। रानीने उसे जरासा चूसकर तत्कालही थूका था—वह कीमती एव सुगन्धित वस्तुओंसे तैयार किया गया था। भगीने उसे उठाकर खा लिया। खातेही उसे उसने ऊपर देखा वह कामान्ध हो गया और घर जाकर खाट पर पड रहा। 'भगिनने उसकी ऐसी परिस्थितिका कारण पूछा—यदि मुझे महारानी मिल जाय तो म जीवित रह सकता हूँ—अन्यथा नहीं। पत्नी सुनकर बोली—'पागल हो गये हो क्या ? यदि कोई सुन लेगा तो अभी फासीपर लटका दिये जाओगे।" भगी कामाध हो रहा था बोला—"चाहे जो कुछ हो यदि रानी मिलेगी तो म जीवित रहूँगा अन्यथा मर जाऊँगा।" जब समझानेके प्रयत्न व्यर्थ गये तब भगिन किसी उपायकी खोजमें निकली। उसे ज्ञात हुआ कि नगर मे एक सिद्ध महात्मा आये हुये है और वे सब सिद्धिका मन्त्र देते है। भगिन ने आकर भगी से कहा—अपने नगरमें एक सिद्ध महात्मा आये है, चलो उनके पास चलें और अपने अभीष्टकी सिद्धि करें। दोनो उस महात्माके पास गये और सब सिद्धि

मन्त्र देनेके लिए प्रार्थनाकी। महात्मा बोले, हम उसे ही मन्त्र देते हैं जो हमारी दीक्षा स्वीकार कर हमारे साथ रहता है, फिर उस मन्त्रकी १२ वर्षतक आराधना करना पडती है, तब वह सिद्ध होता है। भगीने सब स्वीकार किया और उसके पास दीक्षित होगया। चतुर्मासके बाद- देश देशान्तरोमें परिभ्रमण करता, मन्त्रकी आराधना करता १२ वर्षके बाद अपने नगरमें साधु संघ के साथ आया। भगिन भी वर्षोंको गिन रही थी और सोच रही थी कि मेरा पति अबके चतुर्मासमें अवश्य आयेगा। साधु-आगमन के समाचार सुनकर वह संघ दर्शनार्थ गई। अपने पतिको देखकर बडी प्रसन्न हुई और दूसरे दिन राज-भवनको जब झाडने गई तो महारानीसे बोली नगरमें एक बडा साधु-संघ आया है, उसमें एक बहुत बडे सिद्ध महात्मा भी हैं, वे ऐसा मन्त्र देते हैं कि उसके प्रतापसे इष्ट सिद्धि हो जाती है। रानीके पुत्र नहीं था, वह वर्षोंसे पुत्र-प्राप्तिके लिए नाना उपाय कर चुकी थी। अत भगिनकी बात स्वीकार कर गुप्त रूपसे उसके साथ साधु-दर्शन को चल पडी। भगिन सब साधुओंके दर्शन कराती हुई अन्तमें अपने पतिके पास ले गई। उस समय वह नेत्र बन्द कर

ध्यानस्थ था। भगिन वाली महाराज, देख लीजिए, देखिये राजरानी आपके सामने खड़ी है। और साधु अपनी भगिन को बोला ... कर आंख बन्द किये ही बोला मुझे इस समय ऐसी-(स्वानुभूतिके) दर्शन हो रहे है, जिसके समान दुनिया की बड़ीसे भी बड़ी राजरानियां कोई चीज नहीं है। भगीनो निरन्तर साधु-संगसे विवेक जागृत हो गया था और वह स्वानुभूतिका दर्शन करता था, अतः उसने उत्तर दिया। यह एक कथानक है जिसका अभिप्राय यही है कि मनुष्य जब तक जिस वस्तुको चाहता है, तब तक वह उसे नहीं मिलती और जब मिलती है तब उसकी चाह मिट जाती है।

कीर्तिका भी यही हाल है। लोग संसारमें कीर्तिके भूखे है, उन्हें उसके पानेकी सदा चाह बनी रहती है। पर बताओ-ऐसी कीर्तिसे क्या लाभ है? जो चाहने पर नहीं मिलती। और जब नहीं चाहते, तब मिलती है। कहा जाता है कि कीर्ति अभी तक कुमारी है, उसने अभी तक अपना विवाह नहीं किया है। इसका कारण यह है कि जो कीर्तिको चाहता है, कीर्ति उसे नहीं चाहती और जिसे कीर्ति चाहती है, वह कीर्तिको नहीं चाहता। इससे वह

कुमारी ही बनी हुई है। और आगभी सदा कुमारी ही बनी रहेगी। पर लक्ष्मीकी बात विपरीत है, उसे लोग वेश्या या व्यभिचारिणी कहते हैं, क्योंकि वह कभी एकको वर करके नहीं रहती, सदा सदा नये नये पतियोकी खोज करती रहती है। सो भया लक्ष्मी और कीर्तिके रागके साथ समस्त विभावोंके रागका भी राग छोडना चाहिए।

सम्यक्त्वी विकल्पोपर नजर रखता है तो इस तरह कि मुझमें विकल्प न हो ? क्या इसका कोई उपाय है ? इसका एक मात्र उपाय निजक्रीडा का स्थान प्राप्त करना है ?

एक बच्चेके पास एक खिलौना था, दूसरा बच्चा उसे देखकर रोने लगा कि मुझे यह दो। वह तब तक रोता रहा जब तक कि दूसरा खिलौना लाकर उसे नहीं मिलगया। इसीप्रकार हमारा रोना भी तब तक नहीं मिट सकता जब तक कि हमारी वस्तु हमें नहीं मिल जाती। भ० महावीरको सिंहके भवमें जब सम्यक्त्व हुआ, तभीसे कर्ममल धोनेका उपक्रम होने लगा और समय आनेपर उन्होने समस्त घातिया कर्ममलको धोडाला।

उनके कर्म-मल धोनेसे हमें क्या लाभ हुआ ?

रागादि भाव जो अभी तक तुम लोग मेरे भीतर भरे हुए थे, सो अब दूर हटो, भीतर से बाहिर निकलो— अब मै वीतरागके दर्शनार्थ आया हूँ और अपने हृदय के भीतर वीतरागता भरना चाहता हूँ।

यदि एक बार भी स्त्री पुत्रादिके भिन्न होनेका भाव जागृत होजाय, तो फिर देखो—क्या होता है? सदा अपने शुद्ध स्वरूपको विचारोगे और उसपर ही दृष्टि रखोगे।

जगत्‌के सब पदाथ स्व स्वचतुष्टय (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप) से युक्त ह, म भी स्वचतुष्टयसे युक्त हूँ। अतएव म शरीर भोजनादिके कारण नहीं जी रहा हूँ किन्तु अपने चैतन्य भावके कारण जी रहा हूँ अतएव सदा स्वपर अपना लक्ष्य रखो।

दो मित्रोको कथा है कि एकने दूसरेसे कहा कि भया ससारको छोडकर जो पहले स्वग चला जाय, वह अपने साथीको सबोधनेके लिएआये जिनमें से एक पहले स्वग में जाकर देव हुआ, पूर्व भवकी बात स्मरण कर अपने साथीको सबोधनेकेलिए आया। नाना प्रकार से समझाया, मगर उसे घरबारसे विरक्ति ही नहीं हुई। तब उसने कहा भाई ये सब स्त्री पुत्रादिक स्वार्थके साथी ह, न विश्वास हो तो परीक्षा

करके देख लो। देव बोला—अच्छा पेटके ददका बहाना करके बीमार बन जाओ और जो भी दवा पिलायें–कहते जाओ कि दर्द दूर नहीं हुआ। उसने ऐसा ही किया। अनेक वैद्य आए–पर किसीकी दवासे आराम नहीं हुआ, तब वही देव वैद्य बनकर सामने आया और बोला—मेरे पास एक ऐसी दवा है कि जिसके पीतेही पेटका दर्द तुरन्त चला जाय। घर वालो ने कहा, तो दवा दीजिए। वैद्य बोला—पर इस दवा की यह विशेषता है कि इसे बीमार नहीं पियेगा–तुममें से किसीको पीना पडेगी और उसका दद दूर हो जायगा। पर साथही यह भी विशेषता है कि पीने वाला मरजायगा। वैद्यने सबसे पहले उसकी बूढी माँ से कहा, तू तो आज कलमें मरनेही वाली है अत तू पीले तो तेरा लडका जीजाय। वह सोचने लगी कि चारमें से यदि एक मर भी जाय, तो तीनहो मेरे बच्चे बचेंगे उनका सुख देखूगी–ऐसा सोचकर उसने इन्कार कर दिया। पिताने भी ऐसा ही सोचकर इन्कार कर दिया। कहनेका साराश यह कि उसके भाई, लडको स्त्री आदि सभीने अपना स्वाथ सोच सोचकर दूध पीनेंसे इनकार कर दिया, तो वह बोला यदि कोई नहीं पीता है, तो मैंही पीलेता हूँ। उसके दवा पीते ही वह

धोनेमें, दूर करने में कारण है। क्योंकि इनके स्वय घातिया कम मल दूर हो गये हैं-क्षत हो गए हैं। निर्दोषकी ही उपासनासे निर्दोषता प्राप्त होगी, अत मुमुक्षुजन, आओ-इनकी धार्मिक छत्रछायामें बठकर पाप-सतापको नष्ट करो। वास्तवमें आत्माका अनुग्रह यही है कि परम समता भावसे उत्पन्न स्वाभाविक सुखरूपी निमलजलसे राग-द्वेषादि पाप-भावोंको धो डाला जावे।

अब आत्मगुणोंके घात करने वाले राग, द्वेष, मोह, अज्ञान, कायरता आदि विभावोंको एव स्वविकासके साक्षात घात करनेमें निमित्तभूत घातिया कर्मोंको जिन्होंने धो डाला है, और इसी कारण जिनके ससारी समस्त जीवोंके परम अनुग्रह करनेकी सामथ्य प्रगट हुई है, ऐसी श्री वधमान स्वामीको कुदकुन्दाचायके शब्दोंमें 'यह म' प्रणाम करता हूँ।

अब आगे आचाय कहते ह कि वर्धमान प्रभु तीथ हैं, क्योंकि ये स्वय परम समाधिरूप जहाज—जिसमें राग-द्वेषादिरूप कोई छिद्र न होनेसे विषयाभिलाष, कषाय आदि जलका प्रवेश नहीं हो सकता, ऐसे समाधि जहाजके द्वारा ससार-समुद्रको तिर चुके हैं, तथा इसीलिए अनेक भवतोंके तिरनेके उपायभूत हैं,

इसलिए तीर्थ है। निरुक्ति भी यही है—'तरन्ति अने-नेति तीर्थम्'।

'तीर्यते संसारसागरो येन तत्तीर्थम्' जिस भावसे संसार सागर तिरा जाय, वह भाव तीर्थ कहलाता है। वह भाव है—ज्ञायक भाव। तन्मय होनेसे वर्धमान प्रभु भी तीर्थ है। अथवा द्वादशांगवाणीका भी नाम तीर्थ है। उसके प्रणेता होनेसे आप भी तीर्थ है। अथवा चारित्ररूपधर्मको भी तीर्थ कहते हैं। आप स्वयं सम्यक्चारित्ररूप होनेसे तीर्थ है। अथवा जिनभवनका नाम भी तीर्थ है, उसके स्वामी होनेसे भी भ० महावीर तीर्थ है। अथवा तीर्थंकर पुरुषोंको भी तीर्थ कहते है, उनके श्रेष्ठ होनेसे भगवान तीर्थ है। अथवा निर्वाणक्षेत्रादिको भी तीर्थ कहते है, पावा तीर्थसे आप का निर्वाण हुआ, अतः भगवान भी उसके संबंधसे तीर्थ कहलाते है। अथवा तीर्थ दर्शनको भी कहते है, उसके योग्य होनेसे आपको तीर्थ है। अथवा मुक्ति-लक्ष्मीको भी तीर्थ कहते है, उनके साथ अभिन्न संबंध होनेसे आप भी तीर्थ कहलाते है। अथवा तीर्थ पात्रको भी कहते है, सर्वोत्तम पात्र होनेसे वर्धमान स्वामी तीर्थ है। अवतारका नाम भी तीर्थ है, स्वर्गसे अवतरण करके जगदुद्धारक बनकर आप यहाँ आये

तीथ है। ग्रथवा विशिष्टजलको भी तीथ कहते ह, आपने केवल ज्ञानरूप विशिष्ट जलमें अवगाहन कर स्वय अपने कर्म मलको धोया और अनकों भव्य जीवो ने भी अपने कममल धोये, अत आप तीथ हैं। गथवा तीथ नाम उपायका भी है, आपने मोक्षका उपाय (रत्नत्रय) यताया और स्वय भी मोक्षके उपायभूत हुए, इसलिए भी गाप तीथ हैं। अथवा तीथ यज्ञको भी कहते ह। आपका केवल ज्ञान स्वय यज्ञरूप है, क्योकि उसमें कम प्रकृतिया होमी जाती ह, इसलिए भी भगवान वधमान तीथ हैं।

जैसे तीथ यानी नदीका किनारा स्वय जल-रहित है और उसका आश्रय करने वाले भी जलके भयसे रहित है, इसी प्रकार आप स्वय ससारके दु खोसे रहित ह और आपकी आराधना करने वाले भव्यजीव भी ससार-दु ख सागरके भयसे रहित ह।

स्वामी अमृतचन्द्र कहते ह–'योगिना तीर्थत्वात तारण समथम्' योगियोंके आप तीथ ह, अतएव तारण-समर्थ हैं। योगीका अर्थ है–'युनक्ति आत्मान आत्मनि' इति योगी। जो अपनी आत्माको अपनी आत्मामें लगावे, सो योगी है। योगीके ऋषि, यति, मुनि, सयत, वर्णी साधु आदि अनेक नाम हैं। ऋषि-ऋद्धि-

सम्पन्न मुनिको कहते ह । अथवा चैतन्य चमत्काररूप आत्मऋद्धिको जो प्राप्त हो, उन्हे ऋषि कहते हैं। यति– 'यत्ने यत्न करोति रत्नत्रये इति यति' अर्थात् जो सदा रत्नत्रयमें यत्न करे, उद्यम शील रहे, उसे यति कहते ह । मुनि– 'मन्यते जानाति प्रत्यक्ष-प्रमाणेन चराचर जगदिति मुनि' अर्थात जो प्रत्यक्ष प्रमाणसे चराचर जगत्को जाने, उसे मुनि कहते हैं। सयत–सम्यक् यतते इति सयत' अर्थात जो सावधानी पूवक अपने कर्त्तव्यके पालनमें यत्न करते है, उसे सयत कहते हैं"। साधु– 'साधयति रत्नत्रयमिति साधु' जो रत्नत्रयको साधन करे, आत्महितको साधे उसे साधु कहते हैं वर्णी– 'वर्ण रूप स यस्यास्ति वर्णी' वणनाम रूपका स्वरूपका है, वह आत्मस्वरूप जिन्हे प्राप्त होगया है उन्हे वर्णी कहते ह । ब्रह्मचारीको भी वर्णी कहते ह । विशेष ज्ञानी और ज्ञायक-भावमें रमने वालेका नाम वर्णी है ।

योगीके इन विभिन्ननामो और उनकी निरुक्तियोंके अर्थसे ही साधुकी चर्या ज्ञात होजाती है। भगवान् महावीर ऐसे योगियोके भी तीथ हैं क्योकि उन्हे ससार-सागरसे पार उतारनेमें समथ ह । भगवान् क्या ह ? ज्ञायक भावरूप है, चित्प्रकाश स्वरूप है। यद्यपि भगवान्

किसीको तारते नहीं ह, क्योंकि वे तो रागसे रहित हैं, तथापि जो भक्त उसका ध्यान करता है, वह स्वय तिरजाता है। आ० कुमुदचन्द्र अपने कल्याणमन्दिर स्तोत्रमें कहते ह –

त्व तारको जिन कथ भविना त एव
त्वामुद्वहन्ति हृदयेन यदुत्तरन्त ।
यद्वा हृतिस्तरति यज्जलमेष नूनमन्त-
र्गतस्य मरुत स किल प्रभाव ॥

अर्थात्–हे जिन भगवान्, तुम भव्यजीवोंके तारक-तारने वाले कैसे हो ! नहीं हो। क्योंकि वे लोग ही तुम्हे हृदयमें धारणकर स्वय जगत्से पार होते हुए तुम्हें भी पार कर लेजाते हे। अथवा जलमें जो मशक तिरती है, वह उसके भीतर भरी हुई हवाका ही प्रभाव है।

इसी प्रकार जो भक्त तुम्हें सदा हृदयमें धारण करते ह, वे स्वय ही जगसे पार होजाते ह। मशक आदमीको तिराता है कि आदमी मशकको तिराता है ? वस्तुत न म परमात्मा को उठाता हूँ और न परमात्मा मुझे उठाता है। फिरभी जो भगवानका ध्यान करता है, वह स्वय तिर जाता है।

जिसके उपयोगमें ज्ञायक भावका बल आजाता है

वही सच्चा भक्त है और वही संसार-सागरसे स्वयं पार हो जाता है।

जैसे जैसे हम भगवानका आश्रय लेकर अपने ज्ञायक भावको बढाते है, वैसे वैसे ही हम भगवानको क्या उठाते है, स्वयं ऊपरको उठ जाते हैं। निजके भीतर रहनेवाले ज्ञायक भावने निज अखण्ड परमात्माको उठा दिया। वस्तुतः न मैं परमात्माको उठाता हूँ और न परमात्मा मुझे उठाता है।

भगवान् महावीर तीर्थ है, योगियोंके [illegible] करनेवाले है। मै संसार-समुद्रमें पडा हूँ। [illegible] उनके समीप पहुँच जाऊंगा तो तिर [illegible] व्यवहार है, पर यथार्थमें समाधिरूप [illegible] कोई तिर नहीं सकता। समाधि-पोतमें [illegible] पार होते है। पर वह समाधि-पोत खूब [illegible] चाहिए कि कषायोंकी चट्टानोसे टकरानेपर [illegible] विषयोंकी आंधी-तूफान आनेपर भी हिले [illegible]। इसीको दूसरे शब्दोंमें यह कहा जाता है कि किसी भी कारणसे उसमें कोई छिद्र न होने पाए, जिससे कि विषय-कषाय रूप जल उसमें प्रवेश न कर सके। यदि तुम्हारे ज्ञायकभावमें विषय-कषायका जल आयेगा, तो वह भारी हो जायगा और डूब जायगा।

भ० महावीर बालब्रह्मचारी थे, तीस वर्षकी उम्र में चढती जवानीमें दीक्षा धारण करली थी, मनुष्य अपनी कमजोरीसे ही विषय-सेवनके चक्करमें पड़ता है। जो ब्रह्मचर्यसे रहित है, उनको न शारीरिक शक्ति बढती है, न ज्ञानशक्ति ही। फिर आत्मिकशक्ति तो बढही कसे सकती है। मनुष्यकी पवित्रता ब्रह्मचर्यमे ही है। ब्रह्मचर्यके अभावसे वह सदा ही अपवित्र रहता है। भगवान्ने तो कामपर विजय पाई, उसे जलाया, और राख लगाई शिवजीने। तो नाम फैल गया शिवजीका, कि कामको उन्होने ही जलाया है। यदि सचमुचमें उन्होंने जलाया होता, तो अपने आधे शरीर में पार्वतीको क्यों लिए फिरते, और क्यों अर्धनारीश्वर कहलाते ?

एक मनुष्य अपनी वीरताकी बहुत डींग मारा करता था और स्त्रीसे कहा करता कि मेरे बराबर शूर कोई नहीं ? एकबार उसे एक युद्धमें जानेको कहा गया। युद्ध समाप्त होनेपर जब घरको लौटने लगा, तो युद्धमें लोगोंकी टांगें काटकर अपने घर लाया और स्त्रीको दिखाकर कहने लगा, कि देखो, म कितना वीर हूँ। स्त्री बोली—यदि वीर थे, तो टांगें काटकर क्यों लाए, सिर काटकर लाए होते ? वह बोला—

पगली, यदि उनके सिर होते, तो म पैरही कैसे काट पाता ? स्त्री हसकर बोली, तब तो तुम सचमुचमें बडे शूर हो ! दुनिया स्त्रियोंके साथ विषय-सेवन करके ही अपनेको शूरवीर समझती है। पर जो शूर वीर होते ह, वे ससारमें रहते समय तक युद्धादिमें शूर-वीरता दिखाते ह, और ससारसे विरक्त होजानेपर परीषह और उपसग सहन करने और आनेवाले उपद्रवो को जीतनेमें शूरवीरता दिखाते ह और कमशत्रुओको जलाकर सच्ची मोक्षलक्ष्मीके साथ रमण करते ह। भ० महावीर बाल ब्रह्मचारी थे, उस ब्रह्मचयकी महान ताक्तके बलसे ही उन्होने दुजय कामपर विजय पाई। देखो-महावीराष्टकमें स्तुतिकारने क्या कहा है ?

अनिर्वारोद्रेकस्त्रिभुवनजयी कामसुभट
कुमारावस्थायामपि निजबलाद्येन विजित ।
स्फुरन्नित्यानन्दप्रशमपदराज्याय स जिन
महावीरस्वामी नयनपथगामी भवतु मे ॥

अर्थात्--जो कामरूपी सुभट महायोद्धा जिसने तीन जगत्को पछाडकर अपने वशमें कर रखा है-अतएव जो त्रिभुवनजयी है, जिसका उद्रेक दुर्निवार है, उस महाबली काम-सुभटको हे भगवन, आपने कुमारावस्था में ही निज [illegible] और जो स्फुरित होने

इन्हीं आचार्योंकी परम्परामें आजतक अनेक आचार्य हुए हैं जो अपनी वाणीके द्वारा-ग्रन्थ रचनाके द्वारा आजतक बराबर भगवान् महावीरसे प्रवाहित अमृत जलको यहातक बहाते हुए चले आरहे हैं। इनके कथनोमें कोई विरोध नही है यदि कही कोई विरुद्ध बातसी दिखती है तो वह विभिन्नता विवक्षामात्र ही समझना चाहिए। आत्मीय सत्य शाश्वत आनंद चाहते हो तब निज आत्माके सहज भावका अनुसधान करो। यही बात यही काय अपूर्व है। ऐसा पवित्र अवसर यो ही नही खोना चाहिये। जगतके सारे काम आत्म-हित रूप नही। निजका सहजकाय ही हितरूप है।

हम लोगोको सब भोगोपभोग आज तक मिले, उनको हमने भोगा, पर तृप्ति कुछ भी नहीं हुई, तो इनके पानेसे क्या लाभ हुआ ? दो भाई थे, उनमेंसे बडा भाई मरगया। उसके मरनेकी चर्चा मित्रोमें चली, लोगोने पूछा यार बताओ वह क्या-क्या काम करके मरा है ? एक बोला—

क्या बतायें यार क्या कारोनुमाया कर गये ?
बी ए किया, नौकर हुए, पेंशन मिली और मरगये ॥

यही हाल हम सबका है। हममेंसे किसी एकके मरने पर यदि कोई पूछे कि वह क्या-क्या काम कर

गया—तो यही उत्तर होगा कि—

पदा हुए, व्यापार सीखा, धन कमा बूढ़े हुए।
बन्धु-जनको सौंपकर धन, इस जगतसे चल दिये ॥

कोई कुछ भी करे, मरना तो सभीका निश्चित है, जबतक जीवन है तबतक कुछ भी कर लो, चाहे किसी को प्रसन्न रखनेका प्रयत्न करो, चाहे धन-वैभव बढाओ और चाहे अन्याय करो, पर अन्तमें इसके साथ पाप-पुण्यका सम्कार ही जायगा और कुछ जाने वाला नहीं है।

दो मित्र थे उनमेंसे एक बोला—देखो अपन लोगो ने सब काम हिल-मिलकर एक साथ किये हैं, यदि हमसे कभी आपका चित्त दुखा हो, या अविनय हुई हो तो क्षमा करना। तब दूसरा बोला—

यार मरते वक्त होगा एक बेअदबीका कार।
आप तो पैदल चलोगे, हम जनाजे पर सवार॥

मृत्युका कोई भरोसा नहीं। हमारी आखो देखी घटना है। हमारा एक साथी छज्जू था। हम दश-लक्षणमें शास्त्र पढकर मन्दिरके बाहर बैठ गये। वह लघुशका करने गया कि उसे सापने डस लिया और देखते देखते आध घंटेके भीतर ही उसकी मृत्यु होगई। हम प्रतिदिन देखते और सुनते है कि कितने ही चलते-

मान रखता है, वह अपने आपको ही बरबाद करता है, अत हमें मानका स्तीफा देदेना चाहिए। कषायोका स्तीफा देदो, कहदो–कि मने ससारका स्वरूप जान लिया है। अब हमारे भीतर तुम्हे रहनेका अवकाश नहीं है, अत चले जाओ। जब हमें क्रोध आवे, तो गाल फुलाकर–मौन ग्रहण कर रह जाना चाहिए, कितने ही लोग यह उपाय बताते ह परन्तु ऐसे गाडी कबतक टिकलेगी ? कषायोके नष्ट करनेका यही उपाय है कि क्रोधावेशके समय हम अपने अनाद्यनन्त-ज्ञायक भावका विचार करें। और जब क्रोधादिका निमित्त न हो तब और भी अधिक तत्परताके साथ स्वमें स्थिर रहनेका प्रयत्न करें। जो अपने आपमें स्थिर रहते ह, परको नही सुनते ह, उन्हे उपसर्ग आदि के आनेपर, दूसरोंके गाली आदिके देने पर उसका भान ही नहीं होता और वे उस परीषह या उपसर्गको सहज भावमें सहन कर लेते ह। भैया अबतो भेद-विज्ञान करके रागमोह के विनाशमें उद्यमी होओ। रागकी चालें बदल दो। और नहीं तो राग न छूटे तो ऐसा ही किया करें।

आप लोग जो धर्मकी बात यहा सुनें, उसे घर जाकर अपनी पत्नीको भी सुनावें, उसमें भी धार्मिक

भाव और वैराग्य जागृत करें इससे आपको भी परिवारकी ओरसे धर्ममें बाधा न आवेगी।

'धम्मस्स कत्तार' ये प्रभु धर्मके कर्ता हैं क्योंकि समस्त रागीपरागसे रहित जो निजशुद्धात्मप्रवर्तनरूप निश्चयधर्म उस अपने स्वभावमय निजधर्मके उपादान कारण हैं तथा अन्य जीवोंको धर्मका उपदेश देनेसे शुद्धभावनाके विषय होनेसे अलौकिक निमित्त कारण हैं।

आत्मरूपकी सम्भाल ही धर्म है और विषय-कषाय रूप प्रवृत्तिको ही अधर्म कहते हैं। इसीलिए प० दौलतरामजीने कहा है—

आतमके अहित विषय कषाय,
इनमें मेरी परिणति न जाय।
मैं रहूँ आपमें आप लीन,
सो करहु होहु ज्यों निजाधीन॥

हे भगवन, मेरे आत्माके अहित करने वाले ये विषय कषाय हैं, अतएव मेरी इनमें परिणति न जावे। इस पूर्वार्धसे स्तुतिकारने अधर्मका स्वरूप बताकर उससे निवृत्तिकी भावना की है। और उत्तरार्द्धके द्वारा धर्मका स्वरूप बताया है कि मैं अपने आपमें सदा लीन रहूँ। हे भगवन निजशुद्धात्मन्, यदि आप

सचमुचमें भवतोंके तारनेवाले हैं, तो ऐसा उपाय करलो कि जिससे मैं निजाधीन स्वाधीन बनजाऊं। अबतकतो यही भावना करना चाहिए कि मैं कब स्वाधीन बनू। वास्तवमें देखाजाय, तो कोई मेरा कल्याण या अकल्याण नहीं करता। मेरा समताभाव ही कल्याण है और ममताभाव ही अकल्याण है जगतके प्राणियोंको ममताका परिचय तो खूब है परन्तु समताका परिचय कठिन है। देखो तो भया! निजकी चीज कठिन बनारखी है। समयसार में श्री० कुन्दकुन्दने कहा है—

'सुद परिचिदाणुभूदा सव्वस्सवि कामभोगबंधकहा'
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ॥४॥

अर्थात्—सबही लोगोंको काम भोग विषयक बंधकी कथा तो सुनोमें आई, परिचयमें आई और अनुभवमें आई है, इसलिए सुलभहै। किन्तु भिन्न आत्माका एकपना कभी न सुना, न परिचयमें आया और न अनुभवमें आया। इसलिए एक यही सुलभ नहीं है। इसकी टीका करते हुए अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं—

इह सकलस्यापि जीवलोकस्य संसारचक्रक्रोडा-धिरोपितस्याश्रान्तमनन्तद्रव्यक्षेत्रकालभवभावपरावर्तै

समुपक्रान्तभ्रान्तेरेकच्छत्रीकृतविश्वतया महता मोह-ग्रहेण गोरिव वाह्यमानस्य प्रसभोज्जृम्भिततृष्णातङ्कत्वेन व्यक्तान्तराधेरुत्तम्योत्तम्य मृगतृष्णायमानं विषयग्राम-मुपरुन्धानस्य परस्परमाचार्यत्वमाचरतोऽनन्तशः श्रुत-पूर्वानन्तशः परिचितपूर्वानन्तशोऽनुभूतपूर्वा चैकत्व विरुद्धत्वेनात्यन्तविसंवादिन्यपि कामभोगानुबद्धा कथा । इदं तु नित्यव्यक्ततयान्तः प्रकाशमानमपि कषायचक्रेण सहैकीक्रियमाणत्वादत्यन्ततिरोभूत सत्स्वस्यानात्म ज्ञतया परेषामात्मज्ञानामनुपासनाच्च न कदाचिदपि श्रुतपूर्व, न कदाचिदपि परिचितपूर्वं, न कदाचिदप्य-नुभूतपूर्वं च निर्मलविवेकालोकविविक्त केवलमेकत्व । अत एकत्वस्य न सुलभत्वम् ।।४।।

जितनाभी ससारी जीवलोक है, वह ससार चक्रके बीचमें बैठा हुआ है । कुम्हारका चक्र लोहेकी कीलपर घूमता है और यह ससारकाचक्र रागद्वेषकी कीलपर घूमता है । अनादिकालसे निरन्तर घूमनेके कारण यह बहुत थका हुआ है । इस जीव लोकने अनन्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव परिवर्तन किये हैं, उनसे इसे महा भ्रान्ति उत्पन्न हुई है ये जीव मोहवश विश्वकी विभूतिको इकट्ठा करना चाहता है, सब विश्वपर साम्राज्य करना चाहता है इसी चाहकी व्यग्रतासे

पीडित है, सो महामोह-पिशाचके वशीभूत होकर यद्वा-तद्वा काय करता है। कोल्हूके बैलकी तरह ससारके कार्योमें जुतरहा है। देखो—जैसे कोल्हूका बैल आँखोमें पट्टी बाधकर कोल्हूके इदगिद चक्करसे निरतर घूमता रहता है। यदि उसकी आखोपर पट्टी न हो, या पट्टी होनेपरभी किसी निमित्तसे यह ज्ञात होजाय कि मैं यहींका यहीं गोल चक्कर काट रहा हूँ, तो फौरन चक्कर खाकर गिरजाय इसी प्रकार ससारो जनभी रागद्वेषके निमित्तसे सभी, पुत्र, धनादिके इद-गिद निरन्तर चक्कर काटते रहते ह और जानते ह कि म तो बिलकुल सीधी चाल चलरहा हू। मनुष्यकी दैनिक चर्याभी कोलूके ही समान है। भ्रमीका जब तक भ्रम नहीं निकलता, तबतक वह निर्भ्रांत नहीं होता, भ्रममें ही पडा रहता है। यही हाल इस ससारी जीवका है। वह भी स्त्री आदिके गुणगान करता हुआ उसके चारो ओर चक्कर काटता रहता है। जिसके मन्में अपनी स्त्री बसी हो, वह दुनियाकी सब स्त्रियाको अपनोसे नीची समझता है। इस प्रकार ये मोही जीव अपने विपरीताभिनिवेशरूप कदाग्रहसे परमें रति मानकर किसीको भला और किसीको बुरा समझकर ८४ लाख योनियों और

१९७॥ लाख कोटि कुलोमें परिभ्रमण करता रहता है। जिसधम-भावके बिना ससारी जीवोकी यह दुदशा हो रही है, उसही प्रतितोद्धारक धमके प्रवर्तक भ० वधमान स्वामी ह। उनके उपदिष्ट धर्मका जो कि सबकी आत्मामें स्वत शक्तिरूपसे विद्यमान है उसका जो पालन करेगा, वह दु खसागरसे अवश्य पार होजायगा। देखो—

मनुष्य भव बहुत दुलभ है। यदि यह ऐसाही चक्कर काटते रहे तो मनुष्यभव पानेका क्या लाभ हुआ ?

ये ससारी जीव महामोहग्रहसे दु खी ह। इन्हें बडी वेगवती तृष्णा लग रही है। उससे अ तरगमें नानासकल्प विकल्प होते ह और उनसे यह निरन्तर दु खी रहता है। एक कथा है कि दो भाई घरसे धन कमानेकेलिए विदेश गये। वहा उन्होने खूब धन कमाया और वापिस देशको लौटते समय सोचा कि इतना धन सायमें लेजानेमें भारी झझट होगा अत एक लाख रुपयोंका एक नील मणि खरीद लिया और देशको वापिस हुए। जब उनका जहाज समुद्रके बीच जाता था, तो बडे भाईके मनमें विकल्प उत्पन्न हुआ कि सारा धन कमानेका उपक्रमतो मने किया है।

इसलिये इस मणिको पानेका एकमात्र मुझेही अधिकार है, क्यों न इस छोटे भाईको यहीं समुद्रमें धकेलदूं, जिससे सम्पत्ति बाटनेका झगडा ही समाप्त होजाय। कुछ देरके पश्चात उसे विचार आया—अरे मने यह कितना बुरा विचार किया है, यह मेरा छोटा भाई है, मुझे लक्ष्मणकी तरह भी अधिक प्यार करता है और म इस मणिके लोभमें उसेही मारना चाहता हूं। इससे तो अच्छा यही है कि मैं यह मणि छोटे भयाको ही देदू, जिससे मेरे हृदयमें ऐसी बुरी भावना फिर न उठे। यह सोचकर वह मणि छोटे भैयाको देने लगा। उसने कहा—भाई, इसे तुम अपने ही पास रखो आप तो मेरे बडे ह, आपको ही यह शोभा देता है। इससे तुम्हीं रखो। बडा भाई बोला—नहीं भया, म तो केवल कहता ही रहा हू, सारा धन तो तुम्होंने कमाया है इसलिए तुम्हीं इसे अपने पास रखो। यह कहकर उसने वह मणि देदिया। उसे पाकर उसका भी भाव बिगडगया। सोचने लगा—हा बात तो ठीक है, धन कमानेका परिश्रम तो मने ही किया है, मैं ही इसे रखनेका सच्चा अधिकारी हू। आगे घर जाकर इसे बाटना न पडे, इससे बडे भाईको यहीं खत्म कर देना चाहिए। फिर उसके विचार आया—अरे, म यह

कितनी बुरी बात सोच रहा हूँ, जो भया, मुझे इतना प्यार करता है, उसके लिए मेरे हृदयमें ऐसा पाप उत्पन्न हो रहा है, म बहुत नीच हूँ। इस मणिको अपने पास नहीं रखूगा, यह सोचकर उसने वह मणि बडे भाईको ही वापिस दे दिया। बडे भाईने जब उसका कारण पूछा तो उसने कह दिया। दोनो जब घर आये तो उन्होने सोचा कि यह मणि अपनी छोटी बहिनको दे देना चाहिए, जिससे वह सुखी रहे और हम लोग भी इन बुरे विकल्पोसे बचे रहे। ऐसा सोचकर दोनो भाइयोने वह मणि अपनी बहिनको देदी। मणि पाकर बहिनके भी बुरे भाव हुए और सोचने लगी कि आजतो दोनो भाई मुझे प्यार करते है सो यह मणि मुझे दिया है, पर एक न एक दिन यह अवश्य मुझसे वापिस लेलेंगे। अच्छा तो यही है कि किसी प्रकार इन दोनो भाइयोका अन्त कर दिया जाय। फिर विचार आया—अरे म कितना बुरा विचार कर रही हूँ, जो भाई मुझे इतना प्यार करते ह कि वर्षोके परिश्रमसे उपार्जित यह मणि मुझे दिया और मै पापिनी उनके ही मारनेकी सोच रही हूँ। वह उठी और भाइयोंको मणि देकर बोली—भाइयो, यह मणि तुम अपने ही पास रखो। इसे हाथमें लेतेही मेरेतो

भाव बिगड गये हैं। भाइयोने सोचा--चलो इसे माताको देदेवें। वह तो हमारी सब तरहसे हितचिंतक है। जाकर मणि माताको देदिया। उसे लेनेके बाद उसके भी भाव बिगड गये। तब उसने दोनो पुत्रोंको बुलाकर कहा--अरे, तुम लोग यह क्या कमाई करलाये, जो इसे हाथमें लेता है, उसके ही भाव बिगड जाते हैं। माताने कहा-- जाओ इस मणिको समुद्रमें फेंक आओ, इससे तो हम गरीब ही अच्छे, जो परस्पर प्रेमसे तो रहते थे। अंतमें मणि समुद्रमें फेंकदी गई। भाइयों, इस लक्ष्मीका निमित्त स्वभाव ही ऐसा है कि जिससे पास यह जाती है, उसीके भाव बुरे हो जाते हैं। इसलिए धनादिसे मूर्च्छा छोडो। उससे हमारा कुछभी हित नहीं होने वाला है। अंतरगमें तृष्णाके होनेपर यह प्राणी बार-बार बाहर उचकता है और मृगतृष्णाके समान इन पाचो इन्द्रियोके विषयग्राममें ही फसकर परस्पर एक दूसरेका आचार्य बनरहा है। इस प्रकार संसारके इन प्राणियोने काम-भोग-संबंधी कथा अनंतबार सुनी, अनंतवार परिचयमें की और अनंतवार ही भोगी। पर इससे हमें कभी विरक्ति नहीं हुई और न अंतरगमें विराजमान चैतन्य भगवानका जो आज गरीब बनाया जारहा है, समझनेका प्रयत्न किया।

समझ जाय तो खुद प्रभु हो जाय। देखो! प्रद्युम्नको वैराग्य जागृत हुआ और अपनी स्त्रियोके पास जाकर बोले– मुझे ससार से विरक्ति होगई है, अत दीक्षा लेने जा रहा हू। स्त्रिया बोलीं– अभी वैराग्य प्रगट नहीं हुआ। यदि सचमुच वैराग्य प्रगट होगया तो यहा हमसे कहने नहीं आते, सीधे बनको चले जाते। तो, तुम जाओ, या नहीं, म तो ये चली। ऐसा कहकर भ० नेमिनाथके समोसरणमें चली गईं और वह राजमतीसे दीक्षित होगईं। जब अत करणमें विरक्ति पूणरूपसे जगजाती है, तब वह इससे-उससे पूछनकी परवाह नहीं करता।

भैया, आत्माके निमल परिणामोमें ही शान्ति मिलेगी। आत्माके ज्ञायकभावके विना अन्यत्र कहीं भी शान्ति नहीं मिलेगी। पर हम स्वय विषयोंमें उलझे रहते ह और दूसरोंको विषयोंमें चलानेकेलिए आचाय बनते ह। विषयभोगकी कथा अनन्तबार सुनी, परिचय में आई और भोगी है अत बुरे कार्योंमें मनुष्यकी प्रवृत्ति स्वत होती है और यदि परोपदेशादिका निमित्त मिल जाय, तो कहना ही क्या है? पर आत्मस्वरूपकी कथा न पहले कभी सुनी, न परिचयमें आई और न अनुभव ही की, अत वह जल्दीसे गले नहीं

उतरती है। यदि एकबार भी आत्माका अनुभव हो जाय तो फिर इसकी परिणति ही और की और हो जाय।

जैसे गणितके सवालका सही उत्तर सबका एक ही होगा, किन्तु गलत उत्तर सबका भिन्न भिन्न होता है। इसीप्रकार धमका अनुभव सबको एकसा ही होता है। पर विषय कषायाका अनुभव भिन्न-भिन्न ही होता है, इसी कारण यह कथा अत्यन्त विसवादिनी—विसवाद करनेवाली है। अथवा किसी भी पर्यायरूप द्वैतकी कथा आपदा हे।

दुनियाके लोग मेरे जाननेमें नही आते, तो मत आओ, एकमात्र मेरा ज्ञानस्वभाव मेरेमें रहो, यही हितकारी है। जिसक एक पुत्र होता है उसे धन, मकान आदिकी अधिक चिन्ता नहीं होती। किन्तु जिसके ४ पुत्र होते ह उसे अधिक चिन्ता होती है। इसी प्रकार जो केवल एक ज्ञायकभावपर दृष्टि रखता है, वह सदा निराकुल रहता है। किन्तु जो विषयोपर दृष्टि रखता है, वह सदा आकुल-व्याकुल रहता है। आत्माके एक स्वरूप रहने तक कोई विसवाद नहीं। अनेकरूप होनेपर ही विसवाद खडा होता है।

यह सत-रूप एकत्व घट घटमें विराजमान है।

सर्व जीव सिद्धोके समान अनन्त शक्तिवाले हैं, जो जीवत्व सिद्धमें है, वह मेरेमें भी है। यह कथन शक्ति की अपेक्षासे है व्यक्तिकी अपेक्षासे नहीं। द्रव्यत्वसे दोनोमें भेद नही, समानता है। हम तृष्णालु होकर दु खी हो रहे हैं। ज्ञानियोकेलिए यह चतन्य एकत्व सदा प्रकाशमान है। निगोदियो तकमें भी चतन्यका एकत्व प्रकाश एक ही है। ज्ञानियोंको यह दिखता है, अज्ञानियोको नहीं। ज्ञानीकी दृष्टि द्रव्यपर रहती है, अज्ञानीकी दृष्टि पर्यायपर रहती है। ये ससारी प्राणी कषायरूप स्थितिको समझते नहीं पाता। कषायचक्रके साथ एकमेक हो रहा है। और समझ रहा है कि जो कषायमें है, वह भी म एक ही हूँ। पर वास्तवमें मेरा शुद्ध एक ज्ञान चैतन्य ढक रहा है, अव्यक्त हो रहा है, किन्तु ज्ञानमें प्रकाशमान है, ऐसा विरले ही समझते ह। अज्ञानीजन प्रथमतो अपने ज्ञायकभावको स्वय जानते नहीं ह। फिर यदि कोई समझावे, तो वे समझते नहीं ह। ज्ञानियोंकी सगति नही करते ह। अत स्वस्वभावकी कथा न सुननेमें आई, न परिचय और अनुभवमें आई। इस एकत्वकी कथा समयसारमें विस्तृतरूपसे वर्णित की गई है।

आज गुरु पूर्णिमा है। हमें हमारे गुरु (श्रद्धेय

श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसादजी न्यायाचार्य) का बार बार स्मरण आ रहा है, क्योंकि उनका हमपर असीम उपकार है। इस समय उनकी आखों देखी और उनके द्वारा सुनाई गई सच्ची कथा याद आरही है। बनारस में एक मुसलमान था जो बोलनेमें बहुत होशियार था। वह जहा कहीं भी रास्तेपर खड़ा होजाता, और जिस जातिके लोग उधरसे निकलते देखता, उन्हें ही लक्ष्य करके वह अपना व्याख्यान झाड़ने लगता। एकबार उधरसे बहुतसे जैनी जारहे थे। वह तुरन्त उन्हें लक्ष्य करके कहने लगा—सारी दुनियाके मनुष्योंमें तो ७२ ही कलाए होती है, पर जैनियोंमें ७४ कलाए होती हैं। लोग उसकी यह बात सुनकर उसके पास खड़े हो गये और पूछने लगे—भाई दो कलाए कौनसी अधिक होती है ? वह—बोला सुनो, एक तो ये लोग खुद जानना नहीं चाहते यह एक कला अधिक है और दूसरी यह, कि कोई इन्हें बतावे तो मानना नहीं चाहते। ये दो कला अधिक हैं। भाई, यही हाल सभी ससारी जीवोंका है। वे प्रथम तो आत्महितकी बात स्वय जानते नहीं। और यदि कोई बतावे, तो वे उसे मानते नहीं है।

जनधर्म तो ससारके समस्त प्राणियोंके साथ प्रेम

बढानेवाला (अविरोध रखनेवाला) है। पर हमने उसे समझा नहीं, माना नहीं, अत वह आज हास्यास्पद हो रहा है।

परमभट्टारक, देवाधिदेव, सुगृहीत नामधेय श्री वधमानस्वामी को 'एप अह प्रणमामि।' यह मै कुन्दकु द प्रणाम करता हूँ। छठे सातवें गुणस्थानमें झूलने वाले श्री कु दकु दस्वामीजीकी आ तरिक परिणतिका पता उनके 'एप अह' पदसे ध्वनित होता है। जो प्रणाम करता है, वह म नहीं, और जो म हू वह प्रणाम नहीं कर सकता। पर तु यह निमित्त नमित्तिक भावकी विशेपता है।

यहा श्रीमद्भगवत्कु द-कु द स्वामीने जिन विशेपणोसे नमस्कार किया है वे बहुतही प्रयोजन और रहस्यको लिये ह। उपाय उपेय उद्देश्यविधान सवही तत्त्व इसमें गर्भित हैं, जिनसे हमे सरल शब्दोमें यह सीख मिलती है कि वद्धमान स्वामी सव गुरु हैं, जगत का अनुग्रह करनेका अन त सामर्थ्य इनमें है, ससार सागरमें डूबते हुवोको पार करनेके लिये यह तीथ ह, धमके कर्ता है, अत एव अपने सव प्रयोजन जहा फिर कोई प्रजोजन शेप न रहे, इनके निर्देशके अनुकूल अपने प्रवर्तनमें ही सिद्ध होते हैं, सो हे दु खमोक्षार्थो

भवुक जन ! इनके तीर्थका शरण लेकर बहुमानपूर्वक आगमका अभ्यास करके समस्त पर-अनन्त जीव, अनत पुद्गल, एक धमद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य, असख्यात कालाणु इनके गुणपर्याय से अत्यन्त भिन्न परोपाधिज रागादि भावककमसे पृथक् शुद्ध अन्तस्तत्त्वकी भावना रूप एकदेश शुद्धयपर्यायसे असकुचित, सवदेश पूण शुद्धपर्यायसे अविशेषित निज दशनज्ञान सामान्य स्वरूप अहका दर्शन कररहे रहते हुए सब कलेश जालके बन्धनसे रहित होओ।

पहिली गाथामें भगवान महावीरस्वामीको प्रणाम करके अब द्वितीयगाथामें शेष सब पूज्य आत्माओको नमस्कार करते हे--

सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे विसुद्धसब्भावे ।
समणे य णाण दसणचरित्ततववीरियायारे ॥

कहते है कि विशुद्धसत्तावाले या विशुद्धसद्भाव वाले शेषके तीर्थंकरोको, तीर्थंकरोको ही नहीं, सर्वसिद्धोकर सहित तीर्थकरोको नमस्कार करता हूँ। विशुद्धसद्भावके मायने यह है कि जिनके द्रव्यमें अन्य द्रव्यमल नहीं रहा। द्रव्य तो स्वरूपसे ऐसा ही एकाकी है परन्तु अपने अज्ञान भ्रमके कारण अपना विभाव द्रव्यकम आदि मलसे मलीन रहता आया है उस दुर्दशा

के मेटनेका मूलमन्त्र भ्रमका नाश है। ये शेषके तीर्थ-नायक अर्थात् वृषभको आदि लेकर पार्श्वनाथ पर्यंत २३ तीर्थंकर और सवसिद्ध कैसे हैं कि विशुद्धसद्भाव होनेसे अतिम पाकपर उतरे हुए सुवर्णकी तरह शुद्ध दर्शन ज्ञानस्वभाववाले ह। यहा आत्माके अनुजीवी गुणोपर दृष्टि है जिस अपेक्षासे तीथनायक और सर्व-सिद्ध एक ही विशेषणसे विशेपित हैं। इसही भावकी दृष्टि लिये हुए ग्रन्थकार कि हे पहिले नमस्कार करें किसे पश्चात् न तो यह विकल्प ही था और न ऐसी चेष्टा हुई जो "ससव्वसिद्धे सेसे तित्थयरे" इस पदन्याससे प्रकट है। अर्थात सवसिद्धोकर सहित शेप तीर्थंकरोको नमस्कार करता हूँ। यहा शेप पदसे २३ तीर्थंकर विवक्षित हैं क्योकि पहिली गाथामें प्रवतमान तीथनायक श्री महावीर भगवानको वदना की है। उस सम्बन्धके कारण यहा २३ तीर्थंकर विवक्षित ह। तब शेप अतीत सब तीर्थंकरोको सिद्धोमें अन्तगत करके नमस्कार किया है। यद्यपि वतमान २४ तीथकर भी वतमानमें सिद्ध ही है फिर भी तीथप्रवतनाके कारण उन्हें पृथक नमस्कार किया है। उनके उपदेश परम्पराका हम पर महान् उपकार है। यहा विशुद्धसद्भावान् शब्दसे यह विवक्षित है वे सिद्ध प्रभु

पर्यायसे भी शुद्ध ह, द्रव्यसे तो सभी सत विशुद्ध हैं। परमाणु परमाणुकी सत्ता न्यारी न्यारी है। यह निमल पर्याय कसे प्रगट होती है इसका उत्तर टीकाकारके मगलाचरणमें भी है कि "स्वोपलब्धि प्रसिद्धाय" अनादि अनन्त एकस्वरूप चैतन्य भावमय निज आत्माकी उपलब्धिसे परमात्मा प्रसिद्ध है निष्पन्न है। जो शक्तिमें था वह व्यक्ति पर्यायमें भी आगया। जैसे सिद्धप्रभु गुणशाली है वैसा म भी हू। क्योंकि जो सिद्धोमें गुण है शक्ति ह वे मुझमें भी ह और जो मुझमें शक्तिया नहीं है वह सिद्धोमें नहीं हो सकेगी कारण कि चेतन तत्त्व समान ही है। अहो ऐसी अपूव महिमायुक्त होकरभी विषय कषायके कीचड चिथडोमें यह हम आप चतन्य भगवान विश्राम करके सुखी होना चाहता है ? सुखका उपाय द्रव्यदृष्टीकी दृढता विना असभव है। निमल आत्मतत्त्वकी उपलब्धि होनेपर ही निमल पर्याय प्रकट होती है। दृष्टिमें तो विकारी पर्याय रहे अथवा कुछभी क्षणिक तत्त्व रहे और निमलता प्रकट हो असम्भव है। एक आत्मदृष्टिका प्रबल प्रोग्राम बनाओ।

यहा कुन्दकुन्द स्वामीके विनयको देखो पहिले उपकारक तीथके साक्षात् प्रवतक होनेसे वद्ध मान

स्वामीको नमस्कार करके जब आगे नमस्कार करने चले तो कहते है "ससव्वसिद्धे सेसे तित्थयरे" द्रव्य दृष्टिके दृढ कमठ योगी की व्यवहारप्रवृत्ति कितनी गुणग्राहिणी है। लोकमें भी तो निष्पक्ष अध्यापक जब किसी कारणसे कक्षासे छात्रोको बुलाता है तब यही तो कहता है कि सवछात्रो सहित फलाने आवो।

आज जन साधारणके परमोपकारी तीर्थंकरदेवोका परिचय नही है परन्तु ज्ञानीके तो वे आराध्य है। उनके नैमल्य और मार्गको उत्कष्टता देख प्रमोदभावमें स्नान करते ह। देखो, परमपूज्य आराध्य तीर्थंकरोका भी लोकोकी अपेक्षा यश न रहातो भाइयो किसका यश कब तक रहता है, यश पिशाचका मोह छोडो।

अतीत तीर्थंकरोकी तो बात जाने दो किसे याद है उनके क्या नाम थे परन्तु वतमान तीर्थंकरोमें लोक कि्स किसका नाम स्मरण रखते ' इन प्रभुदेवोका कैसा निष्पक्ष उपदेश है—कि प्राणियो कल्याण चाहते हो तो सव राग छोडो मेरा भी राग छोडो।

अपने भीतर रहने वाला, इन्द्रिय-मनसे परे-उनसे अगोचर जो सामान्य तत्त्व है, वह वस्तुमें त्रिकाल अवाधित रहता है। भूतकालमें भी उसकी उपस्थिति थी, आजभी होरही है और आगामी कालमें भी

होती रहेगी। इस लिए उस एक त्रिकाल अबाधित चैतन्य भावके पानेका प्रयत्न करो।

एक कथा है कि किसी देशका राजा दूसरे देशपर चढाई करने गया। वहा से उसने अपनी रानियोंको पत्र लिखा कि जिसे जो-जो चीज चाहिए हो, सो लिखो, हम आते समय लेते आयेंगे। राजाके अनेक रानिया थीं। किसीने हार लानेको लिखा, किसीने बनारसी साडी लानेको लिखा, किसीने कुछ लानेको और किसीने कुछ लानेको लिखा। एक रानीने कोरे कागज पर १ एकका अंक लिखकर और पत्र लिफाफेमें रखकर भेज दिया। राजाने सबके पत्र पढे और सबको मनोवांछित चीजें मगवालीं। मगर इस रानीका पत्र दीवानको दिया कि इसका क्या मतलब है? दीवान चतुर था? बोला– महाराज, इसका संकेत है कि मुझे और कुछ नहीं चाहिए, केवल एकमात्र आपही चाहिए हैं। राजा सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ। वापिस लौटने पर जिसने जो चीज मगाई थी, वह तो उसके पास भेजी और स्वयं उस १ का अंक लिखने वाली रानीके यहा बहुत से वस्त्र भूषणादि लेकर चला गया। भाई, जिसके पास राजा चला गया उसके कमी हा

इसी प्रकार जो बाहिरी इन छोटी मोटी सम्पदाओ के पानेका प्रयत्न न करके एक चैतन्य प्रभुको प्राप्त करनेका प्रयत्न करते ह उन्हे सभी सच्ची विभूतिया स्वयमेव प्राप्त होजाती ह । अतएव अपने एक चैतन्य विज्ञानघनमें लीन हो जाओ और सदा यही भावना करते रहना चाहिए कि मेरी एकमात्र ज्ञायकदृष्टि मजबूत बनी रहे ।

जितने भी नेता लोग हुए ह उन्होंने अपने जीवन में सकटोको, बडी बडी यातनाओको सहा, तभी वे देशके नेता बन सके । गाधीजीके ऊपर कितनी आपदाए आई, विदेशमें । अफ्रीकामें । विदेशियोने उनके ऊपर विष्टा तक फका, पर कभी उनके मनमें विपक्षियोके प्रति दुर्भाव पैदा नहीं हुआ । तब कहीं जाकर वे देशके नेता और महात्मा बन सके । धर्मके नेता बननेकेलिए किसी बाहरी पदार्थपर विजय नहीं पाना है, अपने भीतर बन रहे रागादिविकार भावोपर ही विजय पाना है । अकलक और निकलकका बलिदान हमारे सामने एक आदर्श ह कि अपने धर्मकी प्रभावनाकेलिए निकलकने अपने प्राण हसते हसते न्योछावर कर दिये । लोग शायद निकलकके त्यागको बडा समझते ह, पर मेरी दृष्टिमें अकलकका त्याग

उनसे भी कहीं बहुत अधिक है। जब उन्होंने अपने सामने अपने छोटे भाईका सिर कटते देखा होगा, तो उनके सिर पर क्या बीती होगी ? पर वे बौद्धोंसे उसका बदला खूनके रूपमें लेनेको कभी कृतसंकल्प नहीं हुए। उनके भीतर जो कारुण्य जाग रहा था कि ये सारा जगत् इन नैरात्म्यवादियोंसे शासित होकर नास्तिक बना जारहा है वह कैसे सुमार्गपर स्थित रह सके। इसलिए छोटे भाईके बलिदानका स्मरण होते हुए भी, अपने भाईके बदला लेनेका कभी भाव जागृत नहीं हुआ, अपने कषायभावोंपर पहिले उन्होंने विजय पाई, पीछे बौद्धोंके ऊपर विजय पाई। यदि वे पहिले अपने कषायभावोंपर विजय न पाते, तो निश्चयत वे बौद्धोंके ऊपर भी विजय नहीं पा पाते। क्योंकि कषायोंकी तीव्रतासे ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम उत्तरोत्तर मंद हो जाता है। पर उन्होंने जो अपने भीतर भाईकी हत्यासे उत्पन्न प्रतिशोधकी आग नहीं भड़कने दी, उससे वे निर्विकार रहे, कषायोंपर विजय पाई, इस सबका ही यह महात्म्य हुआ कि उनके भीतर ज्ञानावरणका वह विशुद्ध क्षयोपशम प्रकट हुआ कि बौद्धोंकी इष्ट देवी तारा भी उनके सामने नहीं ठहर सकी और शास्त्रार्थमें पराजित हुई। भगवान

अकलकदेवने सारे भारतवर्षसे क्षणिक सिद्धान्तको भगा दिया, दडबलसे नहीं, अपने प्रखर तर्क शरोंसे विह्वल करके। उसी समयसे भारतवर्षसे बौद्ध धर्म उठगया और लका, श्याम, चीन, ब्रह्मा आदि बाहरके देशोंमें बचे खुचे बौद्ध विद्वान् चले गये। इतिहासका यह अध्याय आज प्रकाशमें लानेके योग्य एव विचारणीय है कि जो बौद्धधर्म एकबार सारे भारतमें फला था और चारों ओर जिसकी विजय दुन्दुभि बज रही थी, वह सातवीं-आठवीं शताब्दिके बाद भारतसे क्यों विलुप्त हो गया। म तो इसमें भट्टाकलकदेवका ही महान् प्रभाव मानता हूँ। उनके समस्त तर्कग्रन्थ बौद्धो के प्रबल खडनसे भरे पडे हैं, जिनके खडनका आज तक कोई भी बौद्ध-आचार्य उत्तर नहीं दे सका है। हमारा बौद्ध भाइयोंसे द्वेष नहीं, बौद्ध अब सत्य बुद्ध बने यही भावना है।

सकट सहनेसे ही मनुष्य बडा बनता है। भीरु बननेसे लोग लेंडू कहने लगते हैं। अपनेको समझो कि मैं बिलकुल स्वतन्त्र हूँ, सुरक्षित हूँ। विशुद्ध सद्भाव पानेका उपाय यही है कि सदा अपने विशुद्धज्ञायक भावपर दृष्टि रखो। इस मलभरे शरीरपर दृष्टि मत रखो। मल-पिंडका मोह सबसे भारी मोह है। इसके

छूटते ही मार्ग जल्दी प्राप्त होजाता है। विशुद्ध सद्भाव पानेकेलिए सप्त व्यसनोके त्यागकी भी बडी आवश्यक्ता है। व्यसनोंमें प्रधान जुआ है। आज जुआ खेलने के भिन्न-भिन्न रूप प्रचलित हैं। जरा जुआ-रियोकी मनोवृत्तिका अध्ययन तो करो कितनी सक्लेश भरी रहती है। ससारके सभी जीव जुआ खेल रहे हैं—

'शुभ अशुभ बधके फल मभार, रति अरति करे निज पद विसार' यह जुआ नहीं, तो क्या है। यदि शुभ बधका फल मिला, पुण्योदयसे इष्ट सामग्री प्राप्त हुई, तो बस 'पौ बारा आगए' मारे हषके फूले नहीं समाते ह। और यदि कहीं अशुभ बधका फल मिला मापके उदयसे इष्ट पुन, धनादिका वियोग होगया तो 'तीन काने आगए' की कहावत चरितार्थ होती है और हाय हाय करते मर जाते हैं। पर जो ज्ञानी होते हैं, वे पुण्य और पाप इन दोनोके फलमें हर्ष विषाद नहीं करते। इसी प्रकार मास खाना, मदिरा पीना, वेश्यासेवन करना, शिकार खेलना, चोरी करना और परस्त्रीसेवन करना इन शेषके छह व्यसनोका अन्तरग और बहिरग दोनो प्रकारसे परित्याग करना आवश्यक है। जब तक इनका परित्याग नहीं होगा,

तब तक विशुद्ध सद्भावकी ओर मनकी प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। हे भाइयो, यदि ज्ञायक भावकी प्राप्ति करना चाहते हो, विशुद्ध सद्भावको पाना चाहते हो, तो आत्मपरिणतिको अत्यन्त मलिन, कलुषित बनानें वाले इन सप्त व्यसनोंका परित्याग करो। अपने आपमें सदा प्रकाशमान ध्रुव वस्तुको देखो आ० पद्मनदिने कहा है—

यदव्यक्तमबोधाना व्यक्त सदबोधचक्षुषाम्।
सार यत्सर्वभूताना नमस्तस्मै चिदात्मने॥

अर्थात्–जो चतन्य भाव सज्ज्ञान चक्षुवाले पुरुषोको व्यक्त है, प्रगट है, अज्ञानियोको जिसका पता ही नहीं और जो सब प्राणियोंमें सार स्वरूप है उस चिदात्माको हमारा नमस्कार हो।

स्व की आत्मस्वरूप की पहिचान ही सुखका मार्ग है और स्व की अजानकारी ही दुखका मार्ग है। स्व ज्ञायक भावकी भक्ति आराधना ही जगत से पार होनेका उपाय है।

मूढात्मा यत्र विश्वस्तस्ततो नान्यद्भयास्पदम्।
यतो भीतस्ततो नान्यदभयस्थानमात्मन॥

मूढ जन जहा––जिस वस्तुमें विश्वास कर रहे है. उससे अधिक भयका कोई स्थान नहीं। और

जिससे यह मूढात्मा भयभीत होता है, भय मानता है, उससे अधिक आत्माकेलिए और कोई निर्भय स्थान नहीं है लेकिन ससारी जीवोकी विपरीत प्रवृत्ति देखो कि ।

रागादि प्रगट जो दु ख दैन,
तिन ही को सेवत गिनत चैन ॥

जो राग द्वेषादि प्रत्यक्षमें ही दु खके देनेवाले है, सारे जीव जिनका प्रत्यक्षमें अनुभव कर रहे है, उन्हे ही सेवन करके ये मूढ आत्मा चैन मानता है । बाह्य पदार्थको पाकर चैन मानता है, यह तो मूखता है ही, पर तु यशकी बात सोचना, उसकी चाह करना, प्रयत्न करना पढे लिखोंकी मूखता है, महामूखता है । देखो, सदा कीर्ति किसको रहती है ? तीर्थंकरों जैसे महापुरुषोकी तो सदा कीर्ति रही नहीं, फिर हम अल्पज्ञ, अल्पशक्तिवाले--जो निर तर दुर्भावनाओंसे भरे हुए है--उनकी कीर्ति कितने दिन रहेगी ! परमात्माकी निज कीर्ति तो परमात्मामें सदा रहती ही है, परन्तु लोगोकी दृष्टिसे कह रहा हूँ कि परमात्माके नाम लेने वाले कितने ह ? जितना बिगाड होता है, वह यशकी इच्छासे ही होता है । यशकी इच्छाके साथ ही अनेको झझटें सबद्ध है । यशकी इच्छा छूटते ही अनेको झझटें

स्वयमेव छूट जाती है।

जिन्होंने सर्व आकांक्षाओंको—कषायोंको नष्ट किया है, वे तीर्थंकर कैसे है, सो कहते है —

उपात्तपाकोत्तीर्णजात्यकार्तस्वरस्थानीयशुद्धदर्शन-ज्ञानस्वभावान् अर्थात अन्तिम सोलहवें तापसे तपे हुए जात्य सुवर्णके सदृश शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाववाले है। सोनाको शुद्ध करनेकेलिए सोलह ताप लगाये जाते हैं, ऐसी प्राचीन प्रसिद्धि एव पद्धति है। सोलहवां ताप लगनेपर जैसे सोना अपने शुद्धरूपमें प्रकट हो जाता है, इसी प्रकार आभ्यन्तर व्रत, समिति, गुप्ति, तप आदिमें तपकर आत्माके जब द्रव्य-भावमल दूर होजाते हैं, तब शुद्ध आत्माका शुद्ध स्वरूप प्रकट हो जाता है। इस प्रकारके स्वभावसे 'शेषानीततीर्थनायकान्' वर्तमान चौबीसीके शेष तेईस तीर्थकरोंका तो ग्रहण किया ही है साथ ही अतीतकालमें जितने भी अनन्त तीर्थंकर हो गये है, उन सबका भी स्मरण किया गया है। इस प्रकार अतीतकालसम्बन्धी समस्त तीर्थंकरों और वर्त-मानकालके शेष तेईस तीर्थकरोंको और सर्वसिद्धोंको नमस्कार करके अब ग्रन्थकार शेष तीन परमेष्ठियोंका स्मरण वन्दन करते हैं —

ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारयुक्तत्वात सभा-

वितपरमशुद्धोपयोगभूमिकानाचार्योपाध्यायसाधुत्वविशिष्टान् श्रमणाश्च प्रणमामि' ॥२॥

अर्थात्—जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य इन पाच आचारोंसे युक्त है, अत जिनके परम शुद्धोपयोगकी भूमिकाकी सभावना की जाती है, ऐसे आचार्य, उपाध्याय और साधुपनेसे युक्तसहित श्रमणोंको मैं प्रणाम करता हूँ।

श्रमण नाम गुरुका है। गुरुओंका हमपर कितना उपकार है, यह वचाके अगोचर है। यदि इन्होंने शास्त्रोंकी रचना न की होती, तो हम अरहत और सिद्धको कैसे जान पाते और कैसे उनतक पहुँचनेका, उन जसा बननेका प्रयत्न कर पाते। एक कविने कहा है —

बलिहारी या गुरुकी दिये गोविन्द मिलाय।
गुरु, गोविन्द दोनो खड़े, काके लागू पाय॥

चारुदत्तकी कथा प्रसिद्ध है। जब वे चैत्यालयमें गये और वहा पर उनका गृहस्थ गुरु और साधु दोनो बठे थे, तो चारुदत्तने आसन्न उपकारी होनेसे पहले गृहस्थ गुरुको ही प्रणाम किया।

गुरुका महत्व बहुत बड़ा है। हमने गुरुविनय बचपनसे ही किया है। हम सदा इसी टोहमें रहा

करते थे कि गुरुजन किसी कार्यका आदेश दें तो हम सबसे पहले करके लायें। हमारी यह आदत आजतक है कि जहा कही भी गुरु मिलजाय, हम उनकी बन्दना सबसे पहले करेंगे। हमारी, जैनियोकी यही परम्परा रही है कि गुरुजनों का सदा विनय किया जाय। यही कारण है कि सकल परमात्मा और निकल परमात्मा के नामके साथही गुरुजनोको भी अनादि कालसे ही नमस्कार किया गया है और वह नमस्कार मन्त्र अनादि मूल मन्त्रके नाम से पुकारा जाता है। गुरुजनोमें जो प्रधान होते हैं, सघकी सार सभाल करते हैं, शिक्षा-दीक्षा और प्रायश्चित देते हैं, वे आचार्य कहलाते हैं। जैसे किसी गुरुकुल का प्रधान आचार्य होता है, उसी प्रकार सघके स्वामी आचार्य होते हैं। बहुतसे कल्याणार्थी एकत्रित हो, तो उनका कोई न कोई मुखिया होता ही है, क्योकि उसके बिना सघकी गति नहीं। जहा भी समुदाय होगा, वहा कोई न कोई मुख्य होगा ही। वही उनका आचार्य है। जो स्थान गुरुकुलमें अध्यापकोका है, वही स्थान साधुओमें उपाध्यायोका है। ये द्वादशागके पाठी होते हैं, अच्छे वक्ता और उपदेष्टा होते हैं। कदाचित् अंग-पूर्वज्ञान न भी हो, तो भी जो सघमें प्रभावक, प्रतिभा

सम्पन्न एव कुशल वक्ता होते हैं, उन्हे आचार्यके द्वारा उपाध्याय पद दिया जाता है आचार्यद्वारा पद दिये विना उपाध्याय सज्ञा प्राप्त नहीं होती। जो आत्मार्थी हैं, आत्मा कल्याणकेलिए सदा श्रम करते रहते ह उन्हें श्रमण कहते है। इन तीनो प्रकारके गुरुओका आदर्श इनका मूर्तिमान् रूपही भव्य जीवोंका महान हितकारी है इसलिए भ० कुन्दकुन्दने तीनोका स्मरण किया है।

प्रश्न—आपने आचार्यको प्रायश्चित्त आदिका विधायक कहा है, सो यह तो वडे दद फदमें फस गये ? और यह भी सुना जाता है कि जब वे अपना आचार्यपद छोड देते ह। तभी वे मोक्ष प्राप्त कर पाते है, सोक्या यह सत्य है ?

उत्तर——ऐसी बात नहीं है। बहिरगमें वे शिक्षा आदि अनेको कार्योंमें व्यस्त रह करके भी वे साधुत्वमें किसीसे भी कम नहीं है। यह ख्याल भी गलत है कि वे आचार्यपद छोड देनेके उपरान्त ही मोक्ष प्राप्त कर पाते ह, इस कथनके कई अपवाद भी उपलब्ध ह। हा, यह बात दूसरी है कि कोई आचार्यपदके व्यामोह में पड जाय और उसे न छोडे, तव तो उसे मुक्ति प्राप्त नहीं होगी। पर यदि वे आचार्यपदपर रहते हुए

कभी ध्यानस्थ हो और शुक्लध्यान प्रगट होजाय, तो वे मोक्षको प्राप्त करते ही ह ।

ज्ञाता दृष्टाके अतिरिक्त और सवभाव त्याज्य है । यद्यपि आचाय, उपाध्याय और साधुजन आठ प्रकारके ज्ञानाचार, आठ प्रकारके दर्शनाचार, त्रयोदश प्रकारके चारित्राचार, बारह प्रकारके तपाचार और पाच प्रकारके वीर्याचारका परिपालन करते ह, तथापि उनकी दृष्टि सदा स्वनायकभावपर ही रहती है और वे शुद्धोपयोगके पाने तक ही पृथक्-पृथक् आचारोंका पालन करते हुए कहते ह कि—हे अष्टविध ज्ञानाचार म तब तक ही तुम्हारा आचरण करता हूँ, जब तक कि मुझमें तेरे प्रसादसे मेरे भीतर तेरेसे भिन्न मेरा ज्ञायकभाव नहीं पा लेता हूँ, तब तक ही तुम्हारी आराधना करता हूँ । इसी प्रकार दर्शनाचार आदिकी भी सबोधन करके वही बात कहता है । जब शुद्धोपयोगकी भूमिका तयार हो जाती है, तो एक-एक आचारको पृथक्-पृथक् सबोधन करके मानो कहता है कि ज्ञानाचार, तुम मेरे स्वरूप नहीं हो, अत म तुम्हें छोडता हूँ । कहीं ऐसा साधु कहते नहीं ह और न विकल्प ही करते ह किन्तु उच्च भूमिकामें सर्व प्रवृत्ति छूट ही जाती है । इस प्रकार सबका प्रतिक्रमण क

देता है। इन ज्ञानाचार आदि बाह्य पदार्थोंसे विरक्त होना ही पडेगा, तभी इष्ट ज्ञायकभाव सिद्ध होगा।

सम्यक्त्वको शली तो देखो—सबकी—चौथे, पाचवें, छठे गुणस्थान वालोकी एक ढगसे चलती है। अविरत सम्यक्त्वीके पास जो समागम है, वह उससे विरक्त, देशसयतके पास जो समागम है वह उससे विरक्त और साधुके पास जो समागम है, वह उससे विरक्त रहता है। वैसे मुनि २२ बाईस परीषह सहता हे, पर गृहस्थ तो २२००० बाईस हजार झझटरूपी परीषहो और अनेक जातिके उपद्रवोको सहता है, पर विशुद्धिता जिनके बढी-चढी होती है, वे ही बढे माने जाते ह। झझटें जिसके कम रह गईं, वह स्वय ही का तो फल है। ये आचाय उपाध्याय और साधु सयमकी अपेक्षा सभी सभीसे महान् ह। पचाचारके निमित्तसे उनके विशुद्ध भूमिका तैयार हो गई है अत-एव म उन्हे नमस्कार करता हूँ।

श्री भगवान कुद कुददेव कहते ह —

ते ते सव्वे समग समग पत्तेगमेव पत्तेय।
वदामि य वट्टते अरहते माणुसे खेत्ते ॥३॥

अथ—मानुष क्षेत्रमें वत्तमान रहने वाले जितने अरहन्त ह, उन उन सब अरहन्तोको मैं समक-समक

अर्थात एक साथ युगपत् अथवा प्रत्येक प्रत्येकको काल क्रमसे वदना करता हू ॥३॥

इस गाथामें कितना अर्थ भरा हुआ है, आचार्य कुन्द कुन्द सर्व वत्तमान अरहन्तो को एक साथ भी नमस्कार कर रहे ह और पृथक्-पृथक भी नमस्कार कर रहे ह। तथा अढाई द्वीपमें जितने अरहत हैं, चाहे वे तीर्थंकार अरहत हो और चाहे सामान्य अरहत, उन सबका युगपत ही स्मरण कर रहे ह। ग्रन्थकारकी दृष्टि कितनी विशाल, उदार एव विवेक पूण है यह उसके गाथामें प्रयुक्त पदों से प्रगट होता है।

खडवा की बात है, कोई ७ ८ वर्षका बच्चा दशन कररहा था, मने पूछा–किसके दर्शन कर रहे हो ? बोला– भगवान् के। मैंने फिर पूछा सबसे बडे भगवान कौनसे ह ? वह सबसे बडी मूर्त्तिको दिखाकर बोला ये है। मने फिर पूछा– इनसे छोटे कौनसे हैं ? उसने–पूव मूर्त्तिसे छोटी मूर्त्ति दिखाई। म उत्तरोत्तर पूछता गया कि इनसे छोटी कौनसे भगवान् है और वह उत्तरोत्तर छोटी छोटी मूर्त्ति दिखलाता गया। वह बच्चा मूर्त्तिको ही भगवान समझ रहा था, अत उसने तदनुसार उत्तर दिया। हममें से भी तो कितने ही

याद आरही है । हे भगवान्, आप मेरे लिए कुछ करते नही हे, फिरभी मेरे उद्धारमें आप निमित्त कारण तो अवश्य हे । यदि आपके दशनका सुयोग न मिलता, तो पता नहीं म कब आत्मस्वरूपका भानकर पाता, अथवा अहो ! अहो ! ऐसा ही तो म हू, ऍ ! यह क्या हो रहा ? होओ, म तो यह ध्रुव हू इत्यादि रूपसे अपने शब्दोमें स्तुति करना बहुत लाभदायक हैं । आप पर-रचित स्तुतिको जब बोलते ह, उस समयके भावको, स्वबचनोमें की गई स्तुतिके समयके भावोको और मौनपूवक दशन करते समयके भावोको जरा देखो तो, उनके तारतम्य पर विचार तो करो आपको जमीन आसमान जैसा अ तर दृष्टिगोचर होगा ।

प्रत्येक कायमें अपना लाभ देखना चाहिए कि मुझे इसके करनेसे क्या लाभ हुआ । यदि आत्माको ज्ञातृत्वस्थिति पानेका लाभ हुआ, तो उसे ही सच्ची स्वदया समझना चाहिए । जिसे स्वदया नहीं, वह क्या स्वहित कर सकता है । भाई, यह मनुष्य ज म महा दुलभ है, इसे पाकर स्वहितकी शीघ्रता करो । अ यथा मरना तो सबको पडेगा ही । मरनेके बाद क्या होगा, इसका उत्तर यही है कि जैसा पाप पुण्य किया वैसा ही फल प्राप्त होगा । मरनेकी कोई तिथि ज्ञात नहीं

कि कब मृत्यु हो जाय ? दो मित्र थे, उनमें एक बीमार पडा। दूसरा मित्र शामको उसे देखने गया, और उसकी तवियतका हाल पूछा। तब वह बोला— भाई, बहुत कमजोरी होगई है, बिस्तरसे उठा नहीं जाता है। वह कुछ सेवा- सुश्रूषा करके घर चला आया। किसी कार्यसे एक दिनको बाहर जाना पडा। लौटकर मित्रके घर गया। उसके वहा नहीं दीखनेपर स्त्रीसे पूछा—मित्र कहा है ? वह बोली—दुनियासे चले गये। तब वह मित्र खेद और झुंझलाहटके साथ बोला—

कल तक तो यों कहते थे
कि बिस्तरसे उठा जाता नहीं।
आज दुनियासे भी चल
देनेकी ताकत आगई ?

मरनेपर यह जीव कहासे कहा चला जाता है, कुछ पता नहीं है और ये सब सग-साथी यहीं छूट जाते ह, कोई साथ नहीं चलता। साथ चलनेवाला एक ज्ञायकभाव ही है, अत नायक प्रभुकी ही भक्ति करके अपना जीवन सफल करो।

हमारे पूवजोंने जो ये मन्दिर आदि बनवाये ह और पूजनादिकी परिपाटी प्रचलित की है, यह सब

दोनोके २-२ भाग और हो जाते ह। इन चारो ही भागोमें तीन-तीन विभगानदियो और चार-चार वक्षार पवतोके योगसे आठ आठ भाग होजाते हैं इनमें से प्रत्येक भागके भीतर विजयाध और दो दो नदियोंके योगसे पाच म्लेक्ष खण्ड और एक आर्यखडकी रचना है इस प्रकार चारो भागोमें ३२ क्षेत्र हैं। इनमेंसे ईशान कोणस्थ आठ भागोके एक विभागके जिस किसीभी क्षेत्रमें सीमधर नामक एक तीर्थंकर सदा काल विद्यमान रहते हैं। इसी प्रकार शेषके तीन भागोमें क्रमश युगमधर, बाहु और सुबाहु ये चार तीथकर विहार करते रहते ह। जम्बूद्वीपस्थ विदेहमें उक्त चार तीर्थंकर विद्यमान रहते हैं। धातकी खडमें दो सुमेरु पवत हैं, उनके योगसे वहा पर विदेहोके आठ विभाग हो जाते ह। उनमें सजातक आदि आठ तीथकर सदाकाल विराजमान रहते हैं। पुष्कराधमें भी धातकी खडके समान विदेहके आठ विभाग हैं, उनमें अतिम आठ तीर्थंकर विद्यमान ह। इस प्रकार सब मिलाकर अढाई द्वीपरूप मनुष्य क्षेत्रके भीतर विदेहो-सम्बधी बीस तीथकर कमसेकम सदा वतमान रहते हैं। सदा वतमानका अथ यह है कि इन बीसमेंसे जिस किसी भी तीर्थंकरका जब निर्वाण होता है, तब उसी समय

उनके स्थानपर उनका नामधारी तीर्थंकर केवल ज्ञान प्राप्त करलेता है और इस प्रकार वहा उनका समवशरण प्राय कभी खाली नही रहता। पहले जो एक मेरु सम्बन्धी ३२ क्षेत्र बताए ह, उनमें कभी ऐसा भी अवसर आता है कि प्रत्येक क्षेत्रमें एक-एक तीर्थंकर पूर्व नामके और भी उत्पन्न होजाते ह। इस प्रकार पाचो मेरु सम्बन्धी (३२×५ १६०) एकसौ साठ तीर्थंकर, एक साथ विहार करते हुए किसी अवसर विशेषपर पाये जाते हैं। यह बीस सख्या व नाम श्री वर्द्धमान स्वामीकी धम देशनाके समयकी बात है, प्रसिद्धि ऐसी है कि विदेहमें एक तीर्थंकरके निर्वाणके बाद वहा जो अन्य तीर्थंकर होते ह वे इसी नामके होते ह, किन्तु भिन्न भिन्न नामधारी भी हो तो भी प्राकृतिकताके विरुद्ध नहीं मालूम होता। जब विदेहो में १६० तीर्थंकार विद्यमान हो और प्रत्येक मेरु सम्बन्धी ५ भरत और ५ ऐरावत क्षेत्रमें तीसरेका अन्त या चौथा काल हो और तीथकर विद्यमान हो तो इन दस तीर्थंकरोके मिलनेसे १७० एक सौ सत्तर तीथकर एक साथ सारे मनुष्यक्षेत्रमें पाये जाते ह। इस प्रकार आ० कुन्द कुन्ददेवने उक्त पदकेद्वारा इन सबका स्मरण किया है। 'वतमान काल' यह पद दोनो ओर घटता

है और उसके प्रयोग द्वारा सबका स्मरण करलिया गया है। सबका स्मरण करते समय आत्मामें तो सभी वतमान कालसे ह। यहा आचार्य सभी पूज्य आत्मावोको स्मरणके द्वारा आत्मवतमानकालस्य कर-रहे ह। सभी पूज्य आत्मा निष्परिग्रह होते ह, साधु दीक्षाके अनन्तर ही निर्वाणका मार्ग साक्षात् हो पाता है।

जसे किसी कन्याके स्वयवर मडपके समय जो मगलाचार किया जाता हे और उसके पश्चात् कन्या पतिका वरण करती है, इसी प्रकार यहांपर भी नैग्रन्थ्य दीक्षाको स्वयवर मडप जानना चाहिए और इसमें जो उपयुक्त पात्र सिद्ध होगा, उसे मुक्ति कन्या वरण करेगी।

उक्त प्रकरणोमें यह बतलाया गया कि जो ये पच परमेष्ठी है उनकी व्यक्तियोमें रहने वाले सबहीको में नमस्कार करता हू। सब ऐसा कहनेपर सभी परमेष्ठियोमें सब शब्द लगाना चाहिये अर्थात् सब अरहतोको, सब सिद्धोको, सब आचार्योको, सब उपाध्यायोको और सब साधुवोको नमस्कार करता हूं।

षटखडागमकार पूज्य श्री १०८ आचाय पुष्पदन्त जी महाराजका उक्तग्रन्थ में एक निवद्ध मगलाचरण है

जो णमोकार मन्त्रसे प्रसिद्ध है णमो अरहताण णमो सिद्धाण, णमो आइरीयाण, णमो उवज्झायाण णमो लोए सव्व साहूण" इसकी टीका करते हुए पूज्य श्री १०८ वीरसनस्वामीने "लोए सव्व" को अतदीपक बताया है अर्थात् ये शब्द सब ही पदोमें लगाये जाना चाहिये जिससे ऐसा अन्वय हो जाता है "णमो लोए सव्व अरहताण, णमो लोए सव्व सिद्धाण, णमो लोए सव्व आइरियाण, णमो लोए सव्व उवज्झायाण, णमो लोए सव्व साहूण" अर्थात् लोकमें सब अरहतों को नमस्कार हो, लोकमें सब सिद्धोको नमस्कार हो लोकमें सब आचार्यो को नमस्कार हो, लोकमें सब उपाध्यायोको नमस्कार हो और लोकमें सर्व साधुवोको नमस्कार हो।

इस णमोकारमन्त्रका प्राकृत व्याकरणके अनुसार उच्चारण १८४३२ प्रकारसे ह। अरहताण शब्दमें विकल्पसे र उत्तरवर्ती अके स्थानमें इ व उ होता है जिससे ३ रूप होजाते ह अरहताण, अरिहताण, अरुहताण। फिर ण के अनुस्वार का विकल्पसे लोप होता है जिससे अरहताण अरहताण अरिहताण अरिहताण अरुहताण अरुहताण, ये ६ रूप होजाते ह। णमो शब्दमें रहनेवाले ण के स्थानमें यहा न भी विकल्प

से होजाता है तब छहों स्थोमें पहिले नमो अथवा णमो पढ़नेसे नमो अरहताण, णमो अरहताण आदि १२ रूप हो जाते हैं।

णमो सिद्धाण यहां पर ण के अनुस्वारका विकल्प से लोप होने पर तथा णमाके ण के स्थानमें विकल्प से न आदेश होने पर 'नमो सिद्धाण, णमो सिद्धाण, नमो सिद्धाण, णमो सिद्धाण ये ४ रूप हो जाते हैं।

णमो आयरियाण—इसमें प्रथम य के स्थानमें य, इ, अ भी होते हैं इसलिए अगकेलिये ३ रूपो, द्वितीय या के स्थानमें विकल्पसे आ होता है सो ३×२=६, ण के अनुस्वारका विकल्पसे लोप होता है सो ६×२ = १२, और णमो के ण के स्थानमें विकल्पसे न होता है इसलिये १२×२=२४ प्रकारसे इस तृतीय पदका उच्चारण होता है। यथा णमो आयरियाण, णमो आइरियाण, णमो आअरियाण, णमो आयरिआण, णमो आइरिआण, णमो आअरिआण, णमो आयरियाण, णमो आइरियाण, णमो आअरियाण, णमो आयरिआण, णमो आइरिआण, णमो आअरिआण, ये १२ रूप हैं तथा इन्हींमें णमो के स्थानमें नमो पढ़नेसे १२ और हुए इस तरह २४ प्रकार हैं।

णमो उवज्झायाण—इसमें ण के अनुस्वारका

विकल्पसे लोप हुआ तथा णमो के ण के स्थानमें विकल्पसे न आदेश होता है तब "णमो उवज्झायाण णमो उवज्झायाण, नमो उवज्झायाण, नमो उवज्झायाण इस प्रकारसे ४ रूप हुए।

णमोलोए सव्वसाहूण––पूर्वोक्त प्रकारसे णमो के स्थानमें नमो विकल्पसे होनेपर व अनुस्वारका विकल्प से लोप होनेपर "णमो लोए सव्वसाहूण, णमो लोए सव्वसाहूण, नमो लोए सव्वसाहूण, नमो लोए सव्वसाहूण" इस तरह ४ उच्चारण हुए।

इन सबको परस्पर गुणनेसे १२×४×२४×४×४ =१८४३२ प्रकारसे णमोकारमत्रका उच्चारण होता है। यह मत्र गाथा आर्यारूपमें है सो किसी भी उच्चारणमें गाथाके लक्षणका भग भी नही होता है। गाथा आर्याका लक्षण यह है–– यस्या प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि। अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चादश सार्या।

यह नमस्कार म त्र व्यक्तिप्रधान नहीं है, गुणप्रधान है क्योंकि इसमें आत्माके उत्थानके पदोका ही वर्णन है। इसमें श्री आदिनाथजी या श्री महावीरजी अथवा श्री रामचन्द्रजी या श्री हनुमानजी आदि का कोई नाम नही है। पञ्चपरमेष्ठी पदामें पहुँचे हुए महान्

आत्माएँ पहिले पहिले तो हम आप जसे ही गहस्थ, गृहमें उत्पन्न हुए बालक कुमार आदिको तरह हो थे उन्हे जब आत्मज्ञान दृढ हुआ परद्रव्योसे लक्ष्य हटा- विरक्ति हुई-सब वाह्यार्थ छूट गये, मात्र शौचोपकरण व दयोपकरण प्रवृत्तिमें समितिके अर्थ रहा यही तो साधुपद है। ऐसे महाव्रती अनेक साधुओका जहाँ समूह हो तो "समूह एक प्रधान बिना रहता ही नहीं" इस न्याय प्रकृतिके अनुसार उनमें प्रधान होना सुनि- श्चित ही है जिसमें प्रधानका यह कार्य हो जाता है कि उपदेश आदेश आदि द्वारा साधुओके आत्माका पोषण, एव दीक्षा, प्रायश्चित्त आदिद्वारा उनका शोधन होना। ये ही प्रधान आचार्य पदसे सज्जित ह इन साधु- समूहमें जो विशेष ज्ञानी होते हैं और जिन्हे आचार्य महाराज ये उपाध्याय ह ऐसा घोषित करते ह वे उपाध्याय कहलाते है। ये तीनों गुरुराज इन्द्रियोके दमी मन वचन काय गुप्ति व ईर्या भाषा ऐषणा आदाननिक्षेपण प्रतिष्ठापना समितिके धारक होते हैं, तीनो ही श्रमण ह इनमें जो कोई अन्तरात्मा समताकी अपूर्व साधना करते हैं-निज शुद्धात्मा का निर्विकल्प सवेदन करते है-पृथक्त्ववितर्कवीचार एकत्ववितर्क अवीचार शुक्लध्यान करते है उनके स्वय घातियाकर्मके क्षय

होनेसे अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन अनन्तसुख अनन्तबल व्यक्त हो जाते हैं। यद्यपि यह प्रसिद्धि है कि आचार्य महाराज दूसरे विशिष्ट योगीको आचार्य पद देकर फिर ध्यानमें रत हो जाते हैं और उनके वीतराग निर्विकल्प निज शुद्धात्म संवेदन बलसे कैवल्य प्रकट हो जाता है। ठीक है परन्तु कदाचित् कोई आचार्य आचार्यपद न दे सके तो भी निस्पृह दिगम्बर तो वे हैं ही, निर्विकल्प शुक्ल ध्यान हो जाने पर कैवल्यमें क्या बाधा ?

वस्तुस्वरूपका यथार्थ ज्ञान होनेपर जो विरक्ति होती है वही यथार्थ अपना अमोघ कार्य करती है। स्त्री पुत्रासे झगड़ा होनेपर उदास-खिन्न होनेमें, अकेले रह गये अब क्यों कष्ट उठाना अथवा त्यागीसन्तोका बहुमान होता है सो इसी मार्गको लेना आदि भावोंसे हुए वेश में वैराग्य स्थायी नहीं होता। वस्तुस्वरूपको ज्ञानमें लेकर उठनेवाला वैराग्य स्थायी है। सच्चा वैराग्य आत्माको उत्कृष्टमय स्थितिमें पहुचाने वाला है। वस्तुविज्ञानके अर्थ द्रव्य गुण पर्यायकी पहिचान करो फिर अथवा अनुभव करलो।

द्रव्य क्या है—जो अनादि हो अनन्त हो स्वसहाय हो और अखण्ड हो। अब आप सबकी परीक्षा कर सकते हैं कि यह द्रव्य है या अन्य कुछ। यद्यपि जो

कुछ है वह द्रव्यसे भिन्न नहीं है तथापि द्रव्यके लक्षण से पहिचानकर देखो जो उसमें द्रव्यतत्त्व निकले उसकी दृष्टिसे यथार्थता निर्मलता प्रकट होती है । देखो (चौकीपर रखे हुए कांचके गोलेको लेकर) इसमें जो यह आपके सामने दिखता है क्या यह अनादिसे है ? नहीं, ऐसा सदा रहेगा ? नहीं, क्या परके संयोग बिना यह आकार है ? नहीं, क्या अखंड है इसके टुकड़े नहीं हो सकते क्या ? टुकड़े हो सकते । तब यह दृश्य द्रव्य नहीं है, फिर क्या है ? यह समानजातीय पर्याय है– अनेक द्रव्यों की पर्याय है । वे अनेक द्रव्य कौन हैं ? परमाणु–पुद्गल । परमाणु तो अनादि है अनन्त हैं स्वसहाय है अखंड है । बस इसीलिए परमाणु द्रव्य है ।

दिखनेवाले ये मनुष्य पशु आदि क्या है ? असमान-जातीय द्रव्य पर्याय । ये अनादि नहीं अनन्त नहीं स्वसहाय नहीं अखंड नहीं है । अतः ये द्रव्य नहीं हैं इनमें जीव द्रव्य है परमाणु द्रव्य है । संयुक्तपर्याय या नैमित्तकपर्याय परवस्तुकी उपस्थिति बिना नहीं होते हैं इसलिये स्वसहायलाका वहां निषेध किया है । वैसे तो सभी परिणमन अपने आधारभूत स्वचतुष्टयके परि-णमन से ही परिणमते हैं किन्तु जो परिणमन परवस्तु की उपस्थिति बिना नहीं है उसका यहां विचार है ।

ज्ञानी किस बुनियादपर विरक्त है ? इसही द्रव्य की स्वतन्त्रताके विज्ञानकी बुनियादपर और निर्विकल्प निज परमात्मा पदार्थके अनुभवकी बुनियादपर उसकी दृष्टिमें दृश्यमान तो सब माया है–पर्याय है क्षणिक है । तत्त्वभूत तो अव्यक्त किन्तु ज्ञानीके गम्य है । द्रव्य की लक्षण कसौटी है इसपर सबको कषते जावो, जो सादिसान्त हो वह पर्याय है । पर्याय में द्रव्य तत्त्वबुद्धि हो तो ससार है । जहा अपने द्रव्यपर दृष्टि जावेगी वहा तो यह स्वरूप आवेगा—

अरसमरूवमगध अव्वत्त चेदणागुणमसद्द ।
जाण अलिगग्गहण जीवमणिद्दिट्ठसठाण ॥

जो रूप रसगध स्पश शब्दकर रहित हे जो किसी व्यक्त चिन्हसे ग्रहणमें नहीं आता जिसका स्वय कोई सस्थान नहीं है और चेतना गुणकर पूण हे वह जीव है । सबजीव स्वतन्त्र हैं, म किसीकी परिणतिसे नहीं परिणमता, अन्य कोई भी मेरी परिणति से नहीं परिणमता । सबसे विविक्त स्वरूपमें अवस्थित अपने द्रव्य को विलीनसकल्प-विकल्प होकर अनुभवता है वह ज्ञानी साधु है । शुद्ध होनेका उपाय अध्यात्मदृष्टि है । राग द्वेषरहित स्वशुद्धात्माका निर्विकल्पसवेदन अथवा आगमभाषामें–एकत्ववितर्क अवीचार शुक्लध्यान होने

पर सब गुणघाती मल धुल जाते हैं।

उक्त पञ्चपरमेष्ठीको स्वभावसे देखो-और अपने में संधि करो-स्वभावकी। णमो अरहंताणं मैं। णमो सिद्धाणं मैं। णमो आइरियाणं मैं। णमो उवज्झायाणं मैं। णमो लोए सव्वसाहूणं मैं।

जैसे आचार्य उपाध्याय साधु कहीं भी बैठे हुए हमें मिल जाते हैं वैसे अरहंतदेव यहाँ कहीं बैठे नहीं मिलेंगे। क्योंकि कैवल्य होते ही उनका बादरनिगोद विकलत्रय आदि अन्य सब साधार जीवों से रहित स्फटिककी तरह हुआ परमौदारिक शरीर ५ हजार धनुष ऊपर जाकर विराजमान रहता है। इन्द्र-देवों द्वारा समवशरण या मान गंधकुटीकी रचना ऊपर हो जाती है। समवशरणमें शोभायमान कोट वेदिकाओंसे परिवेष्टित उपवन, खातिका चैत्यप्रसाद आदि ८ भूमियोंके बाद १२ सभाकी रचना होती है वहां ४ कोठोंमें ४ प्रकारके देव, ४ कोठोंमें ४ प्रकार की देवियां, १ में मनुष्य, १ में श्राविका, १ में मुनि, १ में तिर्यंच बैठते हैं। सभी अपनी योग्यतानुसार धर्मसेवन करते हैं सबको भगवान् का मुख दीखता है।

ये अरहंत प्रभु अंतमें जिनकी आयु कम और अन्य कर्मोंकी स्थिति अधिक है वे समुद्घात करके

अघातिया कर्मोंकी आयु समान स्थिति कर देतेह अथवा जिनकी स्थिति समुद्घातके बिना ही समान है सवकर्मों के क्षय होनेपर–सवद्रव्यकर्म भावकमनोकमसे अत्यन्त रहित होते ही सिद्धलोकमें विराजमान हो जाते हैं। जो जहासे सिद्ध होता है वह वहींसे सीधा सिद्धस्थल पर पहुँच जाता है। हनुमानजी इन्द्रजीतजी आदि सभी इस समय सिद्ध हैं। परन्तु देखो न सिद्धोमें, न अन्य परमेष्ठियों में किसीका भी नाम नहीं लिया गया है। गुणोका पर्दोका ही नाम है। अत परमात्मा का स्वरूप वीतराग सर्वज्ञ ही है वह कोई भी हो। गुरुका स्वरूप साम्यदर्शी है।

इस समय यहां तीर्थंकर नहीं है फिर भी विदेह-क्षेत्रमें तो ह ही। विदेहक्षेत्र भी मनुष्यक्षेत्र (नृलोक) है और हमारा क्षेत्र भी मनुष्यक्षेत्र है फिर हमारे ही क्षेत्रमें तो तीर्थंकर ह। हम वहां नहीं पहुँच सकते यदि विद्याबल होता तो यया न पहुँच जाते ? विद्याधर तो आज भी विदेहक्षेत्रमें पहुँचकर उन तीर्थंकरोका दशन करते हैं। मनुष्यक्षेत्र हम मनुष्योका क्षेत्र है। लोकमें भी कहते है भारतसे लगे हुए चीन जापान आदि स्वक्षेत्र ही है लोकोका वहां यातायात है इसलिये इसमें - करते ह। विदेहक्षेत्रमें जो

उन्हे वतमानके गोचर करके नमस्कार करता हूँ। वे तीर्थंकर इस समय है सो उनका वर्तमानकाल है और मेरे उपयोगमें वे तीथकर हैं सो मेरे वतमानकालमें भी तीथकर ह कहाँ ह ? यहीं हैं। इनको वदना नामक शब्द से–जो कृतिकमशास्त्रमें उपदिष्ट है व मोक्ष लक्ष्मीके स्वयम्वरमें मानों निर्ग्रन्थदीक्षाके अवसर में मगलचारभूत है–आदर किया है–पूजा है।

वन्दना शब्द का अथ भी नमस्कार ही है वन्दना, वन्दामि, नमोऽस्तु सबका एक ही अथ है, परन्तु यहा व्यवहारकी अपेक्षा ऐसा लगा दिया गया है कि साधुवोको नमोऽस्तु कहना ब्रह्मचारियोको वन्दना कहना व आर्यिका आदि जनलिंग वाले उत्कृष्ट श्रावकोको वन्दामि कहना। भक्ति भी वन्दनाका अनर्थान्तर है। भक्ति साधु बननेके समय मोक्ष लक्ष्मी के स्वयवरमें मगलाचरण रूप है। साधु दीक्षाके समय सिद्धभक्ति, आचायभक्ति, योगिभक्ति की जाती है। इनमें भावकी अपेक्षा आचाय भी योगी है। सिद्ध भक्तिमें तो यह पाठ पढा जाता है—सिद्धानुद्धूत-कमप्रकृतिसमुदयान् साधितात्मस्वभावान् आदि और योगिभक्तिमें यह पाठ पढा जाता जातिजरोरुरोगमर-णातुर शोकसहस्रदीपिता आदि। फिर भी जहा

भक्तिपाठ करनेका अवसर नहीं अथवा पाठ करने वाला नहीं या पाठ याद नहीं, न भी सिद्धभक्ति योगिभक्ति कर पाये फिरभी भावसे सिद्ध भक्ति योगि भक्ति होती ही है। यथार्थ सिद्धभक्ति–अनतज्ञानादि सिद्धगुणोकी भावनारूप है और योगिभक्ति निमल समाधिमें परिणत हुए परमयोगियोके समाधि परिणाम आदि गुणोकी भावना रूप है कभी यह भक्ति न भी पढी-जावे तब भी अतरग भावसे होनेवाले साधुवोके सिद्ध व योगिभक्ति हो ही जाती है। पद्मपुराणमें एक चरित्र है– वज्रभानु एक राजपुत्र थे उसका विवाह हुआ, ८-१० दिनबाद वज्रभानुका साला उदयसुदर बहिनको लिवाने आया। मोही वज्रभानु भी स्त्रीके साथ चल दिया। एक अटवीमें तीनो जा रहे थे कि पवतशिलापर नवयुवक साधु शान्तिमुद्रामें ध्यानमग्न थे उनके दर्शन करते ही वज्रभानुको आत्मज्ञान होगया उनकी निर्मोहता व अपने मोहभावका अतर ताडा अपनी विकृतपर्यायका पश्चात्ताप हुआ। एकटकी लगा कर देखने लगे। उदयसुदरने बहनोईसे मजाक किया क्या तुम भी मुनि हो रहे हो। वज्रभानुके मुनि होने का भाव तो हो ही गया था। कुछ सकोच था कि इनको क्या कहकर विदा किया जावे। उसे तो अना-

यास अवसर मिल गया। वज्रभानु बोले कि हम मुनि होवेंगे तो क्या तुम भी हो जावोगे ? उदयसुन्दर बोला हा हा तुम मुनि होगे तो म भी हो जाऊ गा। उदयसुन्दर तो वज्रभानुको मोही समझकर ही प्रश्नोत्तर करता गया था। बस क्या था वज्रभानु वस्त्र उतार कर केशलोच करके निग्रन्थ दिगम्बर हो गए ? देखो भइया ! वज्रभानुके भावमें सिद्धभक्ति व योगिभक्ति हुई या नहीं ? हो गई, जिस स्वरूप का लक्ष्य किया वही तो सिद्धभक्ति है, किस रूप प्रवृत्ति और क्यो बन गई यही तो योगिभक्ति है। वज्रभानुको अत्यन्त निर्मोह देखकर उदयसुन्दरको भी आत्मज्ञान हुआ वह भी दिगम्बर होगया। दोनोकी अपूर्व विलक्षण परिणति देखकर वह रानी भी आर्यिका हो गई । देखो इन तीनोका न इस घर को पता, न उस घरको पता, न इन तीनो के मनमें विकल्प। यहा तो मोहकी ऐसी पराकाष्ठा कर रखी है कि बाहर गए तो रेलमें ही चिट्ठी लिखने लगे। वहा तो वे जगलके जगलमें ही रह गए।

मोक्षलक्ष्मीका स्वयम्बर मडप क्या है? आत्मीयशुद्ध आचरण जसे पहिले स्वयवर होते थे अनेको राजपुत्र शृङ्गार ठाट-बाटके साथ मडपमें जाते थे, जब कन्या

वरणके अर्थ घूमती थी तब अनेको राजपुत्र कोई ऐंठ से कोई प्रसन्नमुख बनाकर कोई बलसा प्रकट कर अनेको प्रकारकी बैठे बठे चेष्टा करने लगते थे परन्तु विवेकशील कन्या न जाने किसे वरमाला पहिनावेगी? अहो सुसज्जितोंपर दृष्टि न जमें और सादे भेषमें रहते हुए धूलभरे को वरलें। हुआ भी कितनी जगह ऐसा। इसीप्रकार मोक्षलक्ष्मी तो उसे ही वरेगी जो अन्तरङ्ग में गुणपूर्ण है अनादि अनन्त शुद्ध चतन्यभाव ही अभी तक जिसके उपयोगमें है। अहो–जो समयपर विशेष आवश्यक क्रिया करते रहे बडे उपसर्ग सहते रहे मुद्रा आडम्बर लीला विशेष विशेषभी करते रहे, यदि लक्ष्यसे दूर हों तोउन्हें न वरे और जो बाह्य व्रत तपमें अग्रणी नहीं है किन्तु अन्तरङ्गमें गुणपूर्ण ह अनादि अनन्त शुद्ध चैतन्यभाव ही जिसके उपयोगमें है उसे वरले। भाई जो काम जिस उपायसे होता वह तो उसही उपायसे होता। अन्तरङ्गनिर्मलता बिना मोक्षमार्ग नहीं है। मुक्ति तो चैतन्यमात्र आत्माको निश्चित करके ज्ञाता दृष्टा रहने रूप समाधिमें परिणत होजाने वाले मुनिके ही होती है। यही निश्चय चारित्र है और व्यवहारचारित्र साधु के आहारादिके समय अर्थात् प्रमाद दशामें जो सावधान रूप प्रवृत्ति होती है वह व्यवहारचारित्र है। अथवा

है ? पहिली बात तो यह है कि विनय हमारे चारित्र गुणकी अवस्था है वह अवस्थावान् में ही व्याप्य है सो वह विनय हमारा भावरूप ही परिणाम है वह हमारा भाव ही विनय है व भावका विनय है उस विनय रूप परिणामका जो विषय है उसका विनय उपचारसे कहते है किन्तु गुणानुरागी अन्तरात्मा ऐसा बहुमान करता ही है । इस तरह यहा द्वैत नमस्कार द्वारा अद्वैत नमस्कार अभीष्ट है । अद्वैत नमस्कार रूप फलके बिना द्वैतनमस्कार आत्मीय परमपदमें स्थापित नहीं कर सकता, मात्र वह शुभोपयोग है द्वैतनमस्कार तो सामान्यत मिथ्यात्व या सम्यक्त्व किसी भी अवस्थामें हो सकता है परन्तु अद्वैतनमस्कार सम्यग्दृष्टिके ही होता है । भक्तको भगवान् के पास इतना पहुचना चाहिए कि पास तो क्या खुद ही तद्रूपोपयोगी हो जावे । जहा सोऽहं के सो (स) का विकल्प भी न रहकर व अन्य भी सर्व विकल्पोसे अत्यन्त मुक्त होता हुआ केवल अहं का अनुभवी रह जावे । वही परमसमाधि है वही निर्विकल्प परिणति है वही स्वानुभव है अद्वैत विनय है अद्वैतनमस्कार है । यह केवल साधुकी लीलाकी ही बात नहीं है, हम आपभी जितनीभी स्थिरता हो

उसीके ही अनुकूल सही भावविनय-भावपूजाका अनुभव करनेका लक्ष्य रखें।

मदिरोमें द्रव्य पूजन करते हैं सो तो गृहस्थोके योग्य ही है परन्तु उसही प्रक्रियामें जो पाठ पढते हैं उसके आश्रयसे, जिस छविका दर्शन करते हैं उसके आश्रयसे, जो शब्द सुनते हैं उसके आश्रयसे भावविनय की ओर बढें।

पूजामें पढते ह "विदभ वितृष्ण विदोष विनिद्र। परात्पर शकर सार वितन्द्र। विकोप विरूप, विशक विमोह प्रसीद विशुद्ध सुमिद्ध समूह" इस पदका अर्थ अपने स्वभावमें भी लगावें। स्वभावसे म पूण सिद्धके समान ह। जो सिद्धमें वह है मुझमें है जो मुझमें नहीं वह सिद्धदेवमें भी नहीं। यहा अपने स्वभावकी व सिद्धके व्यक्तभावकी सधि कोगई है। उसमें अद्वैत नमस्कार आपतित है आचार्य महाराज यह अद्वैतनमस्कार किसलिये कर रहे हैं? जो भाव है वह सरल राग रहने पर कहे बिना नहीं रहा जा सकता। ग्रन्थकार स्वय आगेके छन्दमें कहनेवाले ह कि नमस्कार करके समता परिणामको प्राप्त होता हूँ। जीवका सुखका स्थान समता परिणाम है। और समताका उल्टा दु खका स्थान है। समता इसे अन्तके शब्दसे प्रारभ

सहारनपुरमें रतनचन्दजी व नेमिचन्दजी वकील हैं अनेको ऐसे भव्यजीव हैं उनकी ओर भी देखो। जो समय पर चूकता है वह पीछे पछताता है इसलिये ब्रह्मचर्यका आदर करो व सभी इन्द्रियोका सयमन करो। अनन्त काल व्यतीत होगया जब अब तक इन्द्रियोसे तृप्ति नहीं प्रत्युत सक्लेश दुर्गमन ही बढा तो अब क्या आशा करते हो। मुख मोडो विषयोंसे, परलक्ष्यसे, विषयोके भावसे। जिसे जबसे बोध जग जाय तभीसे धर्ममें लग जावे। धर्म ज्ञानमात्रभावकी परिणतिका अनुभव है। बाह्यमें तो पुण्यसे बढकर और क्या होवेगा उत्तम परिणति स्वयकी स्वयके स्वभावरूप रहनेमें है। "ज्ञान समान न आन जगत में सुखको कारण" मनुष्य जन्म भव तो जरूर है परन्तु दुर्लभ भव है मोक्षप्राप्तिसे पहिले जो भव रहता वह मनुष्यभव ही है। अब तो मूर्च्छा परिणामको छोडो। अन्यथा मौतके घाटपर तो हम सबको उतरना ही होगा फिर समय चूकेका बडा प्रायश्चित्त भोगना होगा। यहाँ बाह्यपदार्थोके सग्रहमें क्या मिलेगा? कोयलेकी दलालीमें काले हाथ तो जरूर होते फिर भी पैसे तो दो मिल ही जाते। किन्तु यहा अध्यात्म प्रकरणमें देखो बाह्यपदार्थोके सग्रह विग्रहरूप प्रय

विक्रय करनेमें क्या हाथ लगेगा उल्टा गाठका ही खोया जायगा—अपना निश्चय प्राण ज्ञान दर्शन मलीन ही होगा। मैं समझता हूँ कि हम सबने काफी धक्के खा लिये है अब निज चैतन्य भगवानकी दृष्टि करो उसका प्रसाद पावो जिसने उस निज चैतन्यदेवके स्वरूपकी सत्कथा भी चावसे सुनी वह भव्य ही है। होनहार ठीक समीप आये बिना चैतन्यकी बात भी सुननेकी रुचि नहीं होती। श्री पद्मनंदि पर्चविंशतिका में लिखा है—"तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता। निश्चित स भवेद्भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम्। जिसने चैतन्यतत्त्वका स्वरूप प्रीतिचित्त होकर सुना वह भव्य ही है मोक्षका पात्र है। ऐसा जीव विरला ही होता है। बहुमतके सहारे आत्मजीवनका निर्णय मत बनाओ। हा बहुमत ही लेना हो तो ज्ञानियोका लो। लौकिकजन तो प्राय पापकार्यमें ही लगे और उसही में दूसरोको लगा रहे। ज्यादह बढे तो "पुण्य करो पुण्यसे सबसुख मिलेगा" ऐसा कहकर परलक्ष्यी हो रहे और दूसरोको परलक्ष्यी बना रहे। अच्छा भाई शुभ परलक्ष्यी रहो, स्त्री पुत्र देवागनायें राजपाट लूट लो परन्तु अतरगसे तो कहो ध्रुव निर्विकार एक रस स्थायी आनन्द मिल जावेगा ? नही। ससारके

सभी यह दु खमय ह । पुण्यमें व पुण्यके विकारमें व पुण्यके फलमें जिनकी रुचि है वे स्वलक्ष्यसे भ्रष्ट ह। निजस्वभावकी पहिचान बिना निर्वाणमार्ग शान्तिमार्ग नहीं मिलेगा ।

भया ! मनुष्यकी विशेषता धमसे ही है अन्यथा किसी कविने कहा--"आहारनिद्राभयमैथुन च सामा-न्यमेतत्पशुभिनराणा । धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीन पशुभि समान । अहार नींद डर काम ये चार तो मनुष्यमें पाई जाती ह और पशुमें भी पाई जाती हैं, इस दृष्टिमें दोनो समान हें, मनुष्यमें केवल धमकी विशेषता है । तो इस कविने वणनमें मनुष्यपर फिर भी विशेष कृपा की । नहीं तो बात तो ऐसी है कि एक धमको छोडकर बाकी कुछ भी कला लो, सब कलायोमें मनुष्य पशुसे हीन है । वह कसे ? देखो जगतमें जिसके लिए उपमा दी जाती है वह तो लघु होता है और जिसकी उपमा दी जावे वह महान होता है जैसे कवि कहने लगते कि इसका मुख चन्द्रमाके समान है तो यहा चन्द्रमा उत्कृष्ट हुआ । इसी तरह प्रकृतमें घटाओ। मनुष्यके बलके लिए लोक उपमा देते हुए कहते ह कि यह मनुष्य शेरके समान है तब बतावो बलमें शेर ही हुआ न ! और--इस मनुष्यकी चाल सकी

तरह है इसकी नींद कुत्तेकी तरह है इसका स्वर कोयलकी तरह है। तो यहा देखो चाल, नींद, स्वरमें मनुष्यसे बढकर ही तो ये पशु हुए। शरीरकी बनावट में कहते ह कि इसकी नाक सुवा सरीखी है इसकी जघा केलकी तरह है आदि, लो अब स्थावरों से भी हल्का नम्बर आ गया। साराश यह है कि मनुष्य जन्मकी शोभा धमसे है। इसलिए भाई भगवान की पूजा होने दो, षट् आवश्यक होने दो व्यवहार धम चलने दो—अपना ध्यय मत छोडो आपका उद्देश्य ज्ञान मात्र स्वभाव रुप रहना है। लक्ष्य विशुद्ध रखिए।

ये गाथायें श्रीमत्कुन्दकुन्दाचायने नमस्कार करते हुए कीं। वे द्वैतनमस्कार करते हुए अद्वैतनमस्कार में प्रविष्ट होते थे। उनमें प्रमाद व निष्प्रमाद अवस्था का क्षणक्षणमें परिवतन होता था। वे अपनी परिणति से, वाणीसे हमको यह सीख देरहे ह कि भव्यो तुम भी व्यवहार में हो तो क्या करें वह तो आपतित ही है अपने ज्ञान दशन स्वभाव की दृष्टि निश्चल रखो।

अब नमस्कार गाथायें कहकर आचाय अपना आशय प्रकृत ग्रन्थकी मूल विषयको ही ध्वनित करते हुए मानों कह रहे ह—

तेसिं विसुद्धदसणणाणपहाणासम समासेज्ज।

उवसपयामि सम्म जत्तो णिव्वाणसपत्ती ॥

उन सब अरहन्त सिद्ध आचाय उपाध्याय साधुवों के विशुद्धदशनज्ञानप्रधान आश्रमको पाकरके समता परिणामको प्राप्त होता हूँ जिससे निर्वाण की प्राप्ति होती है ।

यहां व्यवहार और निश्चय दोनो दृष्टियोंसे वणन है प्रत्युत निश्चयकी मुख्यतासे वणन है । इनके आश्रम को पाकर समताको प्राप्तहोऊ । इनके आश्रम आवास स्थानको प्राप्त करके समताको प्राप्त होता हू यह व्यवहार अथ है । निश्चयसेतो जिस आश्रमको प्राप्त करना है यह ाश्रम कैसा है ? सहज शुद्ध दर्शनज्ञान है स्वभाव जिसका ऐसे आत्म–तत्त्वको श्रद्धानरूप सम्यग्दशनका और बोध रूप सम्यग्ज्ञानका सम्पादन करने वाला है । अब विचार करो कि मेरे सम्यग्दर्शन का व सम्यग्ज्ञानका सम्पादन करनेवाला कौन है ? सहज स्वभावका श्रद्धान व अवबोध करने वाला कौन है ? वह मं ही हू, मेरा आश्रम है, भावाश्रम है, मेरी भूमिका की यह बात है । अन्यथा चलो अरहन्तके घर या चलो सिद्धके घर जहां वे बठे है, कहां जाते। सिद्धके आश्रममें तो कोई शरीरी रहकर जा भी नहीं सकता और पहुचेगा सकम ही रहकर तो निगोद के

वेशमें पहुचेगा ।

अब देखिये भावाश्रमकी शोभा व विस्तीणता—विचारिए साधु जिसजिस गुफामें जिसजिस वनमें जिस जिस पवतपर जिस जिस नदी तटपर जिस आसनसे विधानसे तपस्या कर रहे ह विचारिये, सवक्षेत्र सवसाधु सवविधान इस मनमदिरमें आगया यह मनमदिर इनका महान् आश्रम बनगया । सवसाधुओका आश्रम मेरा मनमदिर होगया इसी तरह उपाध्यायोको विचारिये—कैसा कहा पठनपाठन कर रहे है विशेषतया एकाग्र होकर विचारते जाइए, आचार्योंको भी उनके कृपाकाय को लेकर विचारिए, सबका आश्रम मेरा यह मनमदिर हो रहा है । अर्हंत सिद्धोके गुणानुराग के भावो को विलासका स्थान भी यह मन-उपयोग हो रहा है । यह तो अ तरगमें भी द्वैतकी अपेक्षा की बात है, अब यही भावाश्रम अद्व तरूपमें होता है तब वहा उस आश्रमको पाकर निश्चयत शाति समता प्राप्त होती ही है । इनका स्वरूप जो मेरे उपयोगमें जग रहा है वही मेरा आश्रम है उसे ही म प्राप्त हो रहा हूँ ।

अब विवेकी गृहस्थो ! गृहस्थाश्रमको छोडकर भगवत्पचपरमेष्ठियोके आश्रममें जाकर ज्ञानदशन परि-

णामका अभ्यास करो। यहांके गृहस्थ आश्रममें आश्रय की मुख्यतासे कितनी झंझटें हैं विकल्पकी मुख्यतासे असंख्यात लोक प्रमाण उपसर्ग हैं, विपदावोंमें पड़े हुए विपदावोंके आदी हो गये हैं। यदि यह परलक्ष्य छूट जाय (ज्ञानमें क्षति नहीं) तो इस अन्तरात्माका शीघ्र उद्धार होजाय। अब परसे लक्ष्य हटाकर स्वमें उपयुक्त होना चाहिये। वस्तु विज्ञान इस अनुपमचारित्रका मूल है। वस्तुका निर्णयकर उसके ज्ञाता रहो।

वस्तु स्वतन्त्र है अखंड है। किसीमें किसीका प्रवेश नहीं, किसीकी परिणतिसे मेरी परिणति नहीं। कोई मेरा रक्षक नहीं। मेरे स्वभाव—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान ही मेरे रक्षक हैं। मैं उक्त निज स्वभावाश्रमको पाकर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानसे सम्पन्न होकर साम्यभावको प्राप्त होता हूँ।

वह साम्यभाव क्या वस्तु है सब विज्ञानका फल है सब व्रत तपस्यावोंका सार है परात्परभाव साम्यभाव ही है जहां रागद्वेषका लेश मालिन्य न हो वह साम्यभाव है इसे वीतरागचारित्र अथवा निर्विकल्पध्यान आदि किन्हीं शब्दोंसे कहलो सर्वोत्कृष्ट तत्त्व है। यहां तक कि मिले हुए जीव कर्मोंके भेद करानेवाली सीमा यदि है तो यही साम्यभाव है।

"अहो ! यह साम्यभाव तो [illegible] है
अभी तो अणुव्रतके भाव महाव्रत [illegible]
स्थावोंके भाव आदि बहुतसे [illegible] हैं
साम्यभावकी बात तो इन सब [illegible]
ऊंची अवस्थामें करनेकी है" [illegible]
हालत है। ज्ञानीको तो [illegible] साम्य,
वीतरागचारित्र-साम्य उसका [illegible] है
बीचमें गुणस्थानपरिपाटीसे [illegible]
चारित्रमोहके मन्दोदयवश [illegible] है, [illegible]
पर भी ज्ञानीके लक्ष्यमें [illegible] है। [illegible]
चारित्र औपाधिक है [illegible] निमित्तसे है
यह मात्र पुण्यबंधका कारण है। [illegible], निर्वाण, पूर्ण
स्वातन्त्र्य तो धर्मका फल है। [illegible] साधुका
लक्ष्य तो वीतरागचारित्र [illegible] है उसका परि-
णाम तो ज्ञाता द्रष्टा बन [illegible] है। सरागचारित्र
प्रवृत्तिमें आकर भी वह [illegible] है फिर भी
प्रवृत्तिमें असावधानता [illegible] विलक्षण
अलौकिक परिणति है [illegible]। ठीक ही है [illegible]
ऊंचे हुए बिना वह [illegible]-मन्य प्राप्त [illegible]
हो सकता।

जो व्यवहारचारित्र [illegible] बुद्धि [illegible]

अंधेरेमें है तथा जो अनुभव बिना निश्चयकी वार्तामात्र करके "व्यवहारचारित्र छोडने योग्य है" रटा करता वह भी अंधेरेमें है। लक्ष्य निश्चयका रखें व्यवहारचारित्र छूट जावेगा। व्यवहारचारित्र छूट जाने की चीज है। पुण्यबंधका कारणभूत सरागचारित्र सामने आवेगा तो जरूर परन्तु उसे दूरसे ही उल्लंघन करके वीतराग चारित्र नामके समताभावको प्राप्त करूंगा। कैसा है वह समताभाव—समस्त कलंक कालिमासे रहित है इसी कारण निर्वाणप्राप्तिका कारणभूत है। उसे पानेका लक्ष्य हो।

जरा छतपर जानेकेलिये सीढीपर चढनेवालोंके भाव और चेष्टाको देखो जो निश्चयचारित्र और व्यवहारचारित्रके रहस्योंका प्रदर्शन करने वाला है। वह मुख कुछ ऊपर उठाये हुए ऊपर जानेका संकल्प रखता हुआ सीढीपर रुचिसे कदम रखता है परन्तु रखता है उसे छोडने के लिये। यदि जिस सीढीपर पर रखा है उसीपर ही रखे रहे छोडे नहीं तो छतपर कैसे पहुंचे। तथा छोडकर नीची सीढी का आश्रय करे तो भी छतपर पहुंचना तो दूर ही है उल्टा नीचे ही पहुंचेगा। एवं जिस सीढीपर पैर रखने को होता है वहां वह कुछ रुचि और बुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति करता

है किन्तु कुछ ही अनन्तर अन्य ऊपरको सीढी चढने को उद्यमी होनेपर पहला कदम वहा न जमकर ऊपर उठने को होता है। जब तक सीढियों तक रहता है तब तक वह विराम नहीं लेता परन्तु लक्ष्यस्थान पर पहुँचनेपर ही विराम पाता है।

इसही प्रकार ज्ञानी आत्मा आत्माके यथार्थ स्वभाव दृपि ज्ञप्तिको पहिचाननेके कारण ज्ञाताद्रष्टा रहनेरूप भावका ही लक्ष्य रखता है। ऐसे लक्ष्य वाले ज्ञानीके सराग अवस्थासे वीतराग अवस्थामें पहुचनेके लिये ज्ञान-भावका पुरुषाथ होता है। उसके सफलताके मार्गमें जसे वह अधिकराग अवस्थाको छोडकर कुछ कम कुछ कम राग अवस्थाके पदपर पहुचता है उन प्रत्येक पदोंमें व्यवहार रहता ही है, अपूर्व व्यवहार पदपर पहुचना प्राथमिक व्यवहार छूटनेके लिये ह। यदि जिस व्यवहारमें उसकी प्रवृत्ति हुई है उसीपर रहे छोडे नहीं, आगे बढे नहीं तव ज्ञायकपदपर कैसे पहुचेगा तथा मदराग वश होनेवाले शुभव्यवहारको छोडकर अविरत पदपर जावे तो परमलक्ष्यपर पहुचना तो दूररहा उल्टा ससार गतर्में ही गिरा रहेगा। एव जिस शुभव्यवहार रूप होनेको होता है उसे इच्छापूर्वक भी करता है किन्तु कुछही अनन्तर उपरिवर्ती भावको

उद्यमी होनेपर प्रथम व्यवहार न जमकर ऊपर उठने को होता है। जबतक शुभोपयोगमें रहना पडता है तब तक वह अपनमें पूर्णताकी बात नही समझता परन्तु लक्ष्यभूत पदमें अनुभवी रहनेपर विराम-विश्राम सुखधाम पालेता है। साराश यह कि उच्चभाव होनेपर व्यवहार छूट जाता जानकर व्यवहार छोडा नहीं जाता है। सिद्धान्त ग्रन्थोमें भी कहा है—जइ जिणमय पवज्जह ता मा ववहारणिच्छये मुयए। एकेण विणा-छिज्जइ तित्थ अण्णेण उण तच्च। यदि जिनमतको प्राप्त करना चाहते हो तो निश्चय व व्यवहारको मत-छोडो क्योकि व्यवहारके विना तो तीथ नष्ट होजावेगा और निश्चयके विना तत्त्व नष्ट होजावेगा। जिसको तत्त्वप्राप्ति होजावेगी उसके भी व्यवहार तो चलताही रहेगा किन्तु लक्ष्य विशुद्ध तत्त्वरूप होगा। चढनेवाला जिस सीढीपर पर रखता है वह छोडनेकेलिये ही रखता हे और आगे बढने केलिये। जब छतपर चढ-जाते हैं तब सीढी तो स्वयही छुटजाती है। यह तो पर वस्तुकेलिये परवस्तुका दृष्टान्त है। किन्तु प्रकृतमें तो ज्ञानीके करनेकी बात क्या? उसकी कुशलता तो यही है कि व्यवहारको छोडना न पडे किन्तु छूटता जाय।

प्रकृतमें आचार्य कहते हैं– कषायकण होनेसे ज्ञानी जीवके सराग चारित्र बीचमें आता है फिरभी उसे दूरसे उल्लंघन करके समस्त कषाय विमुक्त होनेसे निर्वाण प्राप्तिके कारण भूत वीतराग चारित्राख्य साम्यभावको प्राप्त होता है। यहा दूरसे उल्लंघन करके शब्द लिखा है। छोडकरके शब्द नहीं लिखा है अर्थात् ज्ञानीके आत्मपर्यायमें सराग चारित्र आतातो है उसे छोडनेकी उससमय चर्चा क्या ? है–को लक्ष्यने उल्लंघन करदिया, उल्लंघ्यचीज है तो अवश्य परन्तु उसपर उपादेयता या उसरूपका श्रद्धान (कुश्रद्धा) न होनेसे वह उल्लंघित हो जाता है। बम्बई जानेवालेको बीचमें स्टेशनें तो मिलती हैं किन्तु उन सबको उल्लंघता हुआ जाता है। यदि बीचकी किसी स्टेशनपर ही प्रेम करके रहजाय तो बम्बई नहीं पहुच सकेगा। वस्तु स्वरूपका निर्णय करके अपने भीतर रमना चाहिये। जगतमें मै समस्त चेतन अचेतन पदार्थोंसे भिन्न हैं, परिवारसे भिन्न हूँ, इस शरीरसे भिन्न हूँ शरीरके कारणभूत सूक्ष्मशरीर (तैजस कर्माण) से भिन्न हू, सूक्ष्मशरीरके कारणभूत कर्मसे भिन्न हैं, कर्मके विपाकस्वरूप रागादिसे भिन्न हू, मतिज्ञानादिसे विलक्षण हूँ केवलज्ञान पर्यायरूपमात्र नहीं हू मै अनादि

अनन्त स्वसवेद्य चैतन्य तत्त्वरूप हूँ अर्थात् जो अनादिसे सब पर्यायोमें अनुगत रहा केवलज्ञान पर्यायमें भी अनुगत होगा वह मैं हू । कैवल्य पर्याय द्रव्य स्वभावके अनुकूल है वहाँ द्रव्यका पर्यायका इतरेतरविलीनभाव हैं तब भी वह सामान्यविशेषात्मक है । वह एक तत्व हैं तथापि इस सकल्प विकल्पसे भी रहित शुद्धस्वरूप अनुभव रूप जब हूँ तब मै वह हूँ । इस लक्ष्यवालेके मार्गमें सरागचारित्र आता है तब भी उसको उल्लघन करके वीतरागचारित्र पर ही दृष्टि रहती है । यदि यह सरागचारित्रमें ही रुकजायतो उसका मार्गभी रुकजायगा ।

निश्चयचारित्र तो आत्मोपयोग रूप छत है। व्यवहारचारित्ररूप सीढियोपर चढन वालेके अपूर्व व्यवहारमें प्रवृत्ति होती है और प्रथम व्यवहार की निवृत्ति होती है फिर भी स्वरूपसे लक्ष्यभ्रष्ट नहीं होता है । अहो ज्ञानीका विलक्षण विलास है अलौकिक ढङ्ग है । उक्त पचपरमेष्ठियोमेंसे जिनके आश्रयसे ज्ञानीका व्यवहार विशुद्ध होता है उनमेंसे अरहन्त और सिद्ध ये दो देव हैं तथा आचार्य उपाध्याय साधु ये तीन गुरु हैं । और अरहन्तदेव की दिव्यध्वनिके निमित्तसे गणधरदेव द्वारा ग्रथित व परम्परागत

उपदेशक शास्त्र शास्त्र है। देवशास्त्र गुरुके आश्रय बिना धर्ममार्गकी प्रगति नहीं होती । देखिये–सगीत सीखने वालोंकी वृत्तिया–उनके उपयोगमें कोई एक ऐसा सगीतका पूर्णज्ञ अपनी बुद्धिके अनुसार रहता है जिसे वह जानता है कि दुनियामें यह पूण सगीतज्ञ है और मुझे इस प्रकार बनना चाहिए वह विशेषज्ञ तो हुवा सगीत विषय का देव। अब वह देव तो दुष्प्राप्य है तब अपने ही नगरमें जो सगीत सिखाने वाला मिले उसहीके पास सीखता है वह है उसका गुरु, और जो पुस्तकें सरगम आदि विधिपूर्वक शिक्षाके निमित्त है वे सगीतके शास्त्र ह। तब देखिए भैया ! सगीत सीखनेमें सगीतके देव शास्त्र गुरु आगए । प्रत्येक विद्याकी ऐसीही बात है। तभी तो आत्मविद्यार्थियो के द्वारा आत्मविद्याके आप्तदेव, आत्मविद्याके गुरु, आत्मविद्याके शास्त्र अपेक्षणीय हैं । इसीलिए श्रीमत्कुन्दकुन्दाचाय कहते है कि अरहत सिद्ध आचार्य उपाध्याय साधुवोंके द्वैतनमस्कार द्वारा अद्वैतनमस्कार करके उनके आश्रमको (भावाश्रमको) प्राप्त करके समताको प्राप्त होता हूँ, मोक्षमार्गको प्राप्त होता हूँ, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रकी एकाग्रताको प्राप्त होता हूँ। यह स्थिति वह है "जहा ध्यान

ह । धर्मके मार्गमें निर्विघ्न बढना हो तो पहिले अपने उपयोगको भेदविज्ञानसे घोटकर साफ कर निर्मल बनाओ । दो चित्रकार थे दोनोंने राजासे चित्र बनवानेकेलिये कहा राजाने एक भवनकी दोनो अन्दरकी भीटो पर चित्र करानेकी आज्ञादी और दोनोंके चित्र का परीक्षण करनेकी व्यवस्था की, बीचमें परदा डाल दिया गया । एक चितेरेने तो कई तरहके रगोंसे विचित्र चित्र बनाना प्रारभ कर दिया । दूसरे चित्रकारने भीटको मसालेसे घोटना घोटना ही प्रारभ कर दिया । दोनो अपने काममें ६ मास तक लगे रहे । ६ मास बाद परदा खोलकर चित्र देखे गय तो घुटी चिकनी भींटपर वे सामनेकी भीटपर चित्रित सारे चित्र झलक गये वे बडी शोभा दे रहे थे । किंतु दूसरी भींट पर वे सब चित्र रूखे रूखे ही दीखते थे । सो भैया भेदविज्ञानके उपयोगसे अपने आपको सम्यग्ज्ञानी और निर्मल बनावो । स्वामी अमृतचन्द्रजी सूरिने कहा "विरम किमपरेणाकायकोलाहलेन स्वयमपि निभृत सन् पश्य षणमासमेक । हृदयसरसि पुस पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो ननु किमनुपलब्धिर्भाति किंचोपलब्धि । आत्मन् व्यर्थके कोलाहलोंसे विराम ले उनसे तुझे कोई लाभ न होगा । एक ६ माह स्वय अपने

आपके अभिमुख होकर तो देख ! फिर तेरे उपयोगमें पुद्गलसे भिन्न स्वरूपवाले निज आत्माकी प्राप्ति होती है या नहीं। होगी ही, उस निज चैतन्य भगवान्को देखकर उसी में रत होकर अपने अनन्त सुखके मार्गमें लगो यही भगवानका उपदेश है।

यहाँ तक ४ गाथाओंमें नमस्कार और पाचवीं गाथामें उद्देश्यपरक संकल्प कहा।

अब आगे जिससे निर्वाणप्राप्ति होती है ऐसे समताभावकी प्रतिज्ञा की थी उसही निर्वाणकारणको सविशेष वर्णन करते हुए यह अब बताते है कि उक्त वीतरागचारित्र और सरागचारित्रमें कौन तो इष्टफल वाला है और कौन अनिष्ट फल वाला है इसकी विवेचना करते हैं–भेद करते है—

अथायमेव वीतरागसरागचारित्रयोरिष्टानिष्टफलत्वेनोपादेयहेयत्व विवेचयति–

अर्थ–अब यह कुन्दकुन्द ही वीतरागचारित्रके इष्ट और अनिष्ट फलको दिखाकर उनके उपादेय और हेयपनेका विवेचन करते है —

यहा अथ शब्दसे कितनी उच्चभक्ति ही टीकाकार ने प्रदर्शित की है–जब तक कोई भक्त अपने आदरणीय आराध्यसे अपनेको भिन्न समझता है, तब तक वह

येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धन भवति ॥

अर्थात सम्यग्दृष्टि जीवके जितने अशसे चारित्र प्रगट है, उतने अशसे उसके कर्मबन्धन नहीं है। और जितने अशसे राग प्रकट है, उतने अशसे उसके कर्म-बन्धन होता है।

मुनिकी वन्दनादि शुभप्रवृत्तिरूप क्रियाओंका नाम ही सरागचारित्र है और आत्मरूपमें लीन रहना वीतरागचारित्र कहलाता है। मुनियोंके दोनो चलते ह, इनका अर्थ यह हे कि आशिक दृष्टिसे दोनों साथ रहते ह, पर बोलनेमें दोनो क्रमवार बोले जाते है। अथवा जिस गुणस्थान तक राग व्यक्त रहता ह, वहा तक सरागचारित्र है और उससे ऊपर वीतरागचारित्र होता है। इनमें वीतरागचारित्र उपादेय है और सराग चारित्र हेय है। इसका अर्थ यही है कि सरागचारित्रमें चारित्रके साथ जो राग लग रहा है, वही हेय है, क्योंकि चारित्रके साथ रहने वाले रागका फल देवेन्द्रादि के पदोका पाना है। भ० कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, अकलक, विद्यानन्दी आदि आचार्योंने जैनशासनकी कितनी बडी प्रभावना की, हमारे उपकारके लिए अनेको ग्रन्थोकी रचना की, यही उनका सरागचारित्र था, इसके फलसे वे मरकर कहाँ गये ? स्वर्गमें। स्वर्गमें भी वे पदधारी

देव ही हुए होंगे। वहां पर देवियां चारों ओरसे उन्हें घेरकर बैठी होंगी, संगीत, नृत्य, नाटक आदि चल रहा होगा, रास-लीला हो रही होगी, और वे भी सबके साथ शिर हिला हिलाकर कदाचित् तन्मय हो रहे होंगे। वहां जाकर यदि कोई उनसे पूछे-कि यह क्या हो रहा है ? तो वे यही कहेंगे--भैया क्या करें, यह सरागचारित्रका फल है, जो इच्छा न रहते हुए भी हमें भोगना ही पड़ेगा।

ज्ञानीकी दृष्टि सरागचारित्रपर नहीं रहती, किन्तु वीतरागचारित्ररूप समताभावपर रहती है। ज्ञानी विचारता है कि यदि मुझे स्वर्गादिकी संपदाएं भी मिल गईं, तो क्या हुआ ? ये तो आकुलताकी जननी ही हैं। जब तक ये संपदाएं रहेंगी, नित्य नई आकुलता ही उत्पन्न करती रहेंगी, और जब उनका विनाश होगा, तब महान् संक्लेश उत्पन्न होगा। ज्ञानीजन तो यही विचारा करते हैं कि हमारे उपयोग में परपदार्थ आवें ही नहीं।

चक्रवर्तिकी सम्पदा, इन्द्र सारिखे भोग।
काकवीट सम गिनत हैं वीतरागिया लोग॥

ज्ञानीजन कर्मोंके विपाकवश पदोचित सर्व कार्य करते हुए भी अपने स्वभावमें जागरूक रहते हैं, उनकी

दृष्टि सदा अपने ज्ञातृत्व, द्रष्टृत्व स्वभावपर ही रहती है। सभीकी दृष्टि किसी न किसी प्रोग्रामपर रहती है। मकान बनानेवालेकी दृष्टि उसी पर रहती है और वह चौबीसों घटे ही उसके साधन जुटानेमें व्यस्त रहता है। इसी प्रकार ज्ञानीकी दृष्टि सर्वदा अपने स्वरूपकी प्राप्तिपर रहती है और वह उसके पानेके साधन जुटानेमें लगा रहता है। ज्ञानीका विचार वस्तु स्वरूपके अनुकूल रहता है, उसे दृढ श्रद्धा रहती है कि सब द्रव्य स्वतत्र हैं। जगत्‌में सब तत्त्वोंकी स्वतत्र व्यवस्था है। यह तो निमित्त नैमित्तिक सबध की विशेषता है कि हमें अपने साथ परद्रव्योंका सबध हुआसा लगता है। निमित्त-नैमित्तिक सबध होनेपर भी मेरा किसीसे कुछ सबध नहीं है। पर वस्तुमें मेरा कुछ भी नहीं है और मुझमें परवस्तुका कुछ भी नहीं है। देखो, ये सारा जगत मुझसे कैसा अत्यन्त पृथक् है! यदि मुझसे सारा जगत रूठा हुआ है, तो रूठने दो, मैं जगतसे रूठता हूँ। वस्तुत न यह मेरे परिणमनसे परिणमता है, और न वह अपने परिणमनसे मुझे परिणमाता है।

चेष्टन्ते स्वकषायेण प्राणिनो मे न वाञ्छका।
केषु मोद च खिन्दानि, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥
(सहजानन्दगीता)

जगत् के सवप्राणी अपनी अपनी कपायोके अनुसार चेष्टा किया करते हैं, उनमें कोई मेरा बाधक नहीं है, कोई मेरा चाहनेवाला नहीं है, और न कोई मेरेसे द्वेष करनेवाला है। फिरम किसमें मोदभाव रखू और किसमें खेदभाव रखू ? मुझेतो स्वय अपने लिए अपने आपमें ही सुखी होना चाहिए।

परकी चाह परमें रहेगी, उसका मोह मुझमें नहीं आसकता। अमुक व्यक्तिका मुझमें बडा प्रेम है, यह कहना बहानामात्र है। हम कहते है कि मुझे अमुकने सुख दिया, दुखदिया, आदि यह सब बहानामात्र है। पर पदाथ तो केवल आश्रयके ही काम आया करते है। एक चुटकला है कि राजसभामें बठे हुए किसी राजाके जोरसे अपानवायु दे निकली। धडाके की आवाज सुनकर लोग हसपडे। राजा झेंपगया। तुरन्त अपनी झेंप मिटानेके लिए पासमें बठे हुए किसी बच्चेको लक्ष्य करके बोला अरे, किसका बच्चा है ? वह राजाका भाव ताडगया, बोला किसीका होऊ, आज आपके काम तो आगया बच्चेके कहनेका भाव यह कि मेरे आश्रयसे आपने अपनी झेंप तो दूर करली। इसी प्रकार जगत्के पदाथ मेरे आश्रय मात्र ह और मेरे विभाव परिणामोमें कर्मादय निमित्तमात्र ह।

ससारके दृष्टिगोचर होनेवाले पदार्थ आश्रयमात्र ह। ससारकी कोई वस्तु रागका कारण नहीं, कर्मोदय ही रागका कारण है। कामी पुरुषके लिए सुदरी युवती स्त्रियोके चित्र, वेश्या आदि उसके राग पैदा करनेमें कारण पडते ह, क्योकि उसका उपादान ऐसा ही है। जिसके उपादानमें विशेष जागृति है उसके सामने वेश्या आदिके आनेपर भी राग जागृत नहीं होता। यह तो दो मल्लोंको लड़ाई है, एकके बलवान होनेपर दूसरा दबा दिया जाता है। एक मल्ल चेतन आत्मा है और दूसरा मल्ल जडकर्म है। जब कर्म मल्ल बलवान् होता है, तो चेतन आत्मा मल्ल दबा दिया जाता है और जब आत्मा-मल्ल बलवान् होता है, तब कर्ममल्ल दबादिया जाता है। यह भाव निमित्तनैमित्तिकका है।

लोग कहते है मुझे गृहस्थीने फसा रखा है, पर यह बहानामात्र है। म स्वय उन्हे पकड़े हुए हू, उनमें राग कर रहा हू। पर मै जिनमें रागकर रहा हू, वे मेरे किसी हितमें आने वाले नहीं है। ऐसा क्यो नहीं मानते कोई मल्ल रहो, ससारही दुखमय है, रागभाव मिटे बिना दुख मिट नहीं सकता। इसीके मिटानेकेलिए तो चारित्र धारण किया जाता है। समन्तभद्र स्वामीने कहा है—

मोह तिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसज्ञान ।
रागद्वेषनिवृत्त्यै चरण प्रतिपद्यते साधु ॥
(रत्नकरण्डश्रावकाचारे)

अर्थात्—जब दर्शनमोहरूप अन्धकार दूर होजाता है, तव सम्यग्दर्शनके लाभके साथ ही सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है। तभी वह ज्ञानी साधु पुरुष अपने राग-द्वेष की निवृत्तिके लिये चारित्रको प्राप्त होता है। इस श्लोकका अभिप्राय यही है कि चारित्र धारण करनेका उद्देश्य रागभावकी निवृत्ति करना ही है। इसी बातको भ० कुन्द-कुन्दने इस 'सपज्जदि णिव्वाण' गाथा द्वारा बताया है कि दर्शन ज्ञान प्रधान चारित्रसे निर्वाणकी प्राप्ति होती है। राग, द्वेष, मोह आदिका नाम ही वाण हैं, जैसे शरीरमें लगा हुआ बाण सदा शूलसा चुभता रहता है, इसी प्रकार जव तक राग, द्वेष मोहादिक बने रहेंगे, तव तक सदा दु खका अनुभव होता रहेगा। किन्तु जव वह उक्त बाणोंसे रहित हो जाता है या यों कहिए कि जव उसके भीतर से वे बाण निकल जाते हैं, तभी उसे निर्वाणकी सप्राप्ति हो जाती है यह गाथा पहली गाथाके उद्देश्य का सम्बन्ध लेकर अवतरित हुई है। पहले कहा था—आश्रमको प्राप्त करके, पच परमेष्ठिको प्राप्त करके—

अर्थात् उनके गुणोंकी भावनारूप भावाश्रमको प्राप्त करके सरागचरित्रके अनन्तर वीतराग चरित्रको प्राप्त होता हू, तब इसमें बताया कि निर्वाणकी सम्प्राप्ति किस साधनसे होती है ? निर्वाणकी सम्प्राप्ति दर्शन ज्ञान प्रधान चारित्रसे होती है ।

यहा प्रधान दृष्टिसे देखो, तो ज्ञानमात्रसे निर्वाण-प्राप्ति ध्वनित है । आत्मख्यातिमें कहा है—'जीवादि-श्रद्धानस्वभावेन ज्ञानस्य भवन सम्यग्दर्शनम् । जीवादि-ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भगनम् सम्यग्ज्ञान । रागादि-परिहरणस्वभावेन ज्ञानस्य भवन सम्यक्चारित्रम्' । इससे सिद्ध है वि रत्नत्रय ज्ञानस्वभावरूप ही है ।

अध्यात्मदृष्टिसे एक गुणमें सर्वगुणके कार्य आते है । आधारकी अपेक्षा नहीं, किन्तु विभुताकी दृष्टिसे । जैसे सूक्ष्म गुण होनेसे सर्वगुण सूक्ष्म है, आदि । इसी प्रकार आत्माका ज्ञानगुण जब श्रद्धानस्वभावसे देखा जाता है, तब वही दर्शनगुण, ज्ञानस्वभावसे देखनेपर वही ज्ञानगुण और रागादिके परिहरण-स्वभावसे देखनेपर वही चारित्रगुण है । यहा चारित्रका प्रकरण है । देखो, ज्ञान ज्ञानस्वभावरूप ही है, उसके स्वरूपमें रागका लेश नहीं । रागके परिहारपूर्वक रहता ही है, तब ज्ञानका ऐसाही बना रहना चरित्र है । देखो भैया,

निमित्त-नैमित्तिक भावकी विशेषता–जिसकी शुद्ध -स्वभावपर दृष्टि होगई, उसके अवशिष्ट रागके कारण पुण्य बध होता ही है, और उसके विपाकमें वभव प्राप्त होते ही ह । इसलिए निर्वाण प्राप्त करने वालेके पहले महान् पुण्योके उदय आया करते हैं, अत वे भारी वैभव पानेके अनतर मुक्तिलाभ करते हैं। कोई जगतके वभवको पाकर निर्वाण पाता है, कोई विपदाओंको पाकर भी निर्वाण पाता है, परतु प्राय, नम यही है कि पुण्य प्रेरित वैभव आते ह, उन्हें वह त्यागता है, ज्ञानमात्रमें रत होता है और निर्वाणको प्राप्त हो जाता है।

देखो भैया, यहा जब हम किसी प्रेमीको कुछ दिनोकेलिए कहीं विदा करते ह, तो उसकी कैसी तैयारी करते ह, सब प्रकारके मागलिक आयोजन करते हैं, तब जो हमारे ससारकी कमेटीसे निमलता पूर्वक सदाकेलिए विदा हो रहा है, तब क्या वह रूखा-सूखा ही विदा होगा ? वह तो बडे बडे वैभवोके साथही विदा होगा, ठाट-बाटसे ही निर्वाण जायगा। वैभवका तो यह स्वभाव ही है कि ज्यो ज्यो इसकी कामना करते हैं, त्यो-त्यों यह दूर भागता है। ज्ञानी-जन इसकी चाह नहीं करते, तो यह ज्ञानियोंके पीछे

पीछे चलता है। तीर्थंकर भगवान गर्भमें आये, तो लक्ष्मी बरसनेलगी, किन्तु भगवान् अपने स्वरूपाचरण से ही प्रभावित रहे। यही जन्म कल्याणकके समय हुआ। बचपनमें भी यही बात रही। इन्द्रादिक मन लुभानेको सदा तत्पर रहते, पर आप रहते थे अपनी ही धुनमें। तप कल्याणकमें इन्द्रोने पालकी रची, आभूषण पहिनाये, पर भगवान् ने उन सबको तृणकी भाति फेंकदिया। ज्ञानकल्याणके समय लक्ष्मी समवसरण बनकर आई, किन्तु वे उससे ऊपरही रहे। वह गन्धकुटीके वहाने चरण स्पश करने चली, तबभी वह असफल रही। कमल भी रचा गया, सिंहासन भी रखा गया, पर वे सव से ऊपर ही रहे, अपनेको किसीका सस्पश नही होने दिया। लक्ष्मीने सोचा-चलो इनके ऊपर छत्र वनकर छू लू, तो छत्र भी उनसे ऊपर ही रहे। इससे हमें यही शिक्षा मिलती है कि इस धन वैभवरूप लक्ष्मीसे और उसकी मूर्च्छासे मुख मोडो।

लोग इस कहनेमें कि पुण्य-पाप दोनों हेय है, सो पुण्य तो झट छोड बैठते है, पर पाप छोडना कठिन पडता है। किंतु प्राक्-पदवीमें इन पुण्य पापके प्रभावोके अतरको तो देखो, इष्टोपदेशमें कहा है—

वर व्रतै पद दैवमव्रतैर्वत नारकम् ।
छायाऽऽतपस्थयोर्भेद प्रतिपालयतोर्महान् ॥

देखो, एक तो छायामें बैठा हुआ किसी आने वालेकी प्रतीक्षा कररहा है और एक धूपमें बैठा हुआ किसीकी प्रतीक्षा कररहा है । क्या इन दोनोंमें अन्तर नहीं है ? बस यही बात पुण्यवान् और पापियोंकी है । एक तो देव सुखमें रहकर उत्तमार्थकी प्रतीक्षा कर रहा है और एक नरक-दु ख भोगता हुआ उत्त-मार्थकी प्रतीक्षा करता है । जिनकी दृष्टि विशुद्ध है उनके पापका उदय रहे, तब भी भले, पुण्यका उदय रहे, तब भी भले । किन्तु वे तो अतिनिकृष्ट ह, जिनके पापसे विरक्ति नहीं, और पुण्य तो पहलेसे ही छूटा हुआ है । पापको छोडनेके पश्चात् पु य छूटे, तो भलाई है ज्ञानीके पुण्य फलमें उपादेय बुद्धि नहीं होती, उसके राग चलते हुए भी रागमें राग नहीं रहता । राग होना अन तानुब धी नहीं है, किन्तु रागमें राग होना अनन्तानुब धी है, क्योंकि रागका राग पर्यायबुद्धिके बिना नहीं होता । वभव तो निर्वाण पानेवालेके अधिक से अधिक आया करते ह । यदि आप पूछें, कि जिसने सारा वैभव छोड दिया, नग्न-दिगम्बर हो गया, उसके पास वैभव क्या रहा ? तो इसका उत्तर यह है

कि जिसे भूलोकका स्वामी चक्रवर्ती, पाताललोकका स्वामी असुरेन्द्र और स्वर्गलोकका स्वामी देवेन्द्र नमस्कार कररहे ह, उसके तीनो लोकोंका वैभव स्वत ही आ गया है । कोई मल्ल किसी जिलेके मल्लोको जीतकर प्रदेशके मल्लोमें विजय पाने जाता है और प्रदेशके मल्लोमें विजय पाकर राष्ट्रके मल्लोमें विजय पाता है । पु वह सवराष्ट्रोके मल्लोमें विजय पाकर विश्वविजयी कहलाता है यदि उस एक विश्वविजयी मल्लको यदि कोई नवीन मल्ल जीत ले तब वह नवीन मल्ल विश्वविजयी कहलाने लगेगा देखो उस नवीन मल्लने एक को ही जीता सारे ससारके सर्व मल्लोसे मुठ भेड नहीं करना पडी । फिर भी यह विश्वविजयी कहलाता है । बस ऐसा ही अनायास वैभव विरक्तोके स्वत हो जाता । चक्री व इन्द्रादि चरणोमें आये तब उनका वैभव भी चरणोमें आ गया ।

यह निर्वाण जो उत्तम वभवोसे भी उत्कृष्ट है, निश्चयचारित्रसे होता है । स्वाधीन ज्ञान सुख स्वभाव वाले शुद्ध आत्मद्रव्यमें निश्चल, निर्विकार अनुभव रूप अवस्थान होना यही निश्चयचारित्र है । इससे ही स्वाधीन, अतीन्द्रिय परमभाव-स्वरूप निर्वाण होता

है। सुख शरीरके निमित्तसे नहीं होता। सुख-गुणकी परिणतिसे ही सुख होता है। सुख-दुख बाह्य पदार्थोंपर अवलम्बित नहीं है, निज सुख-परिणतिपर अवलम्बित है। स्वाधीन सुखकी दशा ही चारित्र है।

यहा 'निर्वाण' शब्दसे अरहंत और सिद्ध अवस्था ध्वनित है। अरहंतको ससारी तो कह नहीं सकते क्योंकि वे पंच प्रकारके परिवर्तनसे छूट चुके है, और मुक्त भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि अभी चार अघातीय कर्मोंसे बंधे हुए हैं, पारिशेषन्यायसे उन्हें जीवन्मुक्त कहा जाता है। तथा सिद्ध सर्वकर्मोंसे विमुक्त हैं, अत अरहत और सिद्ध दोनोका 'निर्वाण' पदसे ग्रहण करना चाहिए।

प्रश्न—सम्यक्त्वी पुरुष तो असुरोंमें उत्पन्न नहीं होता, फिर उसे असुरेन्द्रके वैभव प्राप्तिकी बात कैसे कही ?

उत्तर—हा, यह ठीक है कि सम्यक्त्वी असुरेन्द्रोंमें उत्पन्न नहीं होता, किन्तु जो पहले सम्यक्त्वकी अवस्था में देवायुका बन्ध कर चुका है, और पीछे वह सम्यक्त्व की विराधना करदे, तो वह घातायुष्क कहलाता है और वह मिथ्यात्व दशामें मरकर असुरेन्द्रोंमें उत्पन्न होसकता है और वहा फिर सम्यक्त्वको प्राप्तकर लेता

है। अथवा कोई असुरेन्द्र होकर वहाँ सम्यक्त्व पैदा करले।

सम्यग्दृष्टि किसी झंझटमें हो, परम्परया वीतराग चारित्रसे मुक्ति पावेगा ही। अपनी दृष्टि निश्चल स्वभावपर रखना चाहिए।

'अतो मुमुक्षुणा इष्टफलत्वाद्वीतरागचारित्रमुपादेय-मनिष्टफलत्वात्सरागचारित्र हेयम्।' मोक्षकी इच्छा और प्रयत्न करनेवालोको वीतरागचारित्र उपादेय है, क्योंकि वीतरागचारित्रसे निर्वाण (अभीष्ट) प्राप्त होता है। सरागचारित्र हेय है, क्योंकि उसका फल भवोके क्लेश ही ह। सरागचारित्र हेयकी बात विशेषतया उन्हे शोभा देती, जो उन्नत पथमें चलकर सरागचारित्र पर्यायपर आ गए हैं। श्रद्धा यथार्थ करना तो ठीक ही है। यहा पर क्या हेय है और क्या उपादेय है, इसका रहस्य या अन्तस्तत्त्व ठीक समझनेका प्रयत्न करना चाहिए श्रद्धामें तो पर्यायमात्र हेय होना चाहिए। सरागचारित्रमें चारित्र तो मोक्षमार्ग है, किन्तु उस समय लगा हुआ राग हेय है 'हमें क्या करना, इसका उत्तर' एक उत्तम लक्ष्य ही होना चाहिए। वह है एक ध्रुव चैतन्य स्वभाव।

एक नगरका राजा मरगया, मन्त्रियोंने सलाह

की—सवेरे नगरके मुख्य [illegible] ज्ञो व्यक्ति यहां मिले, उसे ही [illegible]। प्रात: काल मन्त्रीगण मुख्य [illegible] दरवाजा खोला गया, तो वहांपर [illegible] साधुको बैठा पाया। मन्त्रियोंने [illegible], कि आप हमारे राजा है, [illegible] राजपदको स्वीकार कीजिये। साधु [illegible] बना सङ्कट में फस गया हूँ। उसने [illegible] इन्कार किया। मन्त्रियोके बहुत अनुनय [illegible] वह इस शर्त पर राजी हुआ कि मुझसे [illegible] सम्बन्धी कोई बात पूछी न जाय। [illegible] ने स्वीकार कर लिया और साधुको [illegible] बैठा दिया और राजाके वस्त्राभूषण [illegible] पहिननेको दिये। उसने एक पेटी मगाकर [illegible] उसमें रख और सब वस्त्राभूषण [illegible] गद्दीपर बैठ [illegible] कुछ दिनोके बाद किसी [illegible] राजाने उस [illegible] आक्रमण कर दिया। [illegible] और [illegible] पूछने लगे—अब हमें [illegible] चाहिये। [illegible] अपनी शर्तको भग होता [illegible] पेटी [illegible] उसमेंसे लगोटी निकाल [illegible] वस्त्राभूषण पहनली और जगल [illegible] कहता [illegible]

मुझे तो ये करना चाहिए, तुम्हारी तुम जानो। इसी प्रकार ज्ञानी जनोको तो यह राजपाट उस साधुके समान क्लेशदायक दिखता है, पर अज्ञानियोको वह सुखदायक प्रतीत होता है। अज्ञानी पर-वैभवको देख कर ईर्ष्यासे उद्विग्न एव सतप्त रहता है, अत अपने प्राप्त वभवका भी उपभोग नहीं कर पाता। एक ग्रामीण चार पैसे कमाकर उतनेमें ही अपनी गुजर करके सन्तुष्टचित्त रहता है पर वही जब किसी शहरमें आकर रहने लगता है और वहाके नानाप्रकार के भोगोपभोगके साधनोको देखता है, तो उन्हें देखकर पानेके लिये लालायित हो उठता है और तृष्णावश दुखी बन जाता है। पुण्यके उदय प्राय तृष्णाके ही कारण है अत तृष्णा पापके कारणका कारण सराग चारित्र हेय है। चारित्र तो चारित्र है, राग हेय है।

अब सातवीं गाथामें चारित्रका स्वरूप कहेगे। ज्ञान और आनन्दमें चारित्रका स्वरूप निहित है, अत यहाँ प्रथम ज्ञानाधिकार रखा है। इसमें ज्ञानतत्त्वका वर्णन किया जायगा।

अथ चारित्रस्वरूप विभावयति—

अब चारित्रके स्वरूपका विभावन करते हैं। यहापर 'कथयति' आदि अन्य क्रियापद न देकर जो

विभावयति' क्रियापद दिया है उसमें एक भारी रहस्य छिपा हुआ है। 'भवन्त प्रेर्यति भावयति, विशेषेण भावयति विभावयति' जो होते हुएको विशेष रूपसे, प्रेरित करे अर्थात हुआवे, यह इसका निरुक्त्यर्थ है, आचार्य भी श्रोताओंके हृदयमें चारित्रके स्वरूपको उत्पन्न कराते हैं। जब चारित्रका वर्णन होगा और श्रोताजन सुनेंगे, तब उनकी परिणति कैसी होगी ? चारित्रके उपयोगरूप हो जायगी, यह रहस्यनिहित है।

आज सभाएं होती हैं और उनमें किसी कार्यकेलिए प्रस्ताव पास किया जाता है। फिर कुछ दिनोंके पश्चात् दूसरा प्रस्ताव किया जाता है कि पहले जो प्रस्ताव पास किया जाचुका है, उसे कार्यरूपसे परिणत किया जाय। पुन आगेके अधिवेशनमें प्रस्ताव पास किया जाता है, कि उसे क्रियात्मक रूपमे अमलमें लाया जाय। इस प्रकार प्रस्तावपर प्रस्ताव पास किये जाते हैं, पर कार्य कुछभी नहीं होता। भैया प्रस्ताव करो, या मत करो, केवल कार्य प्रारम्भ करो। आज जितना कहना बढ गया है, उतना ही करना कम गया है। इस लिए आचार्य श्रोताओके सामने चारित्रका स्वरूप कहते नहीं हैं, बल्कि उनके हृदयमें उसे उत्पन्न कराते हैं —

चारित्त खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥७॥

अर्थ—चारित्र क्या है ? धर्म क्या है ? समभावका नाम धर्म कहा गया है। समभाव क्या है, ? मोह और क्षोभसे रहित जो आत्माका परिणाम है वह 'समभाव' कहलाता है। सारांश-राग, द्वेष, मोहको दूर करके आत्मामें विश्राम करनेको चारित्र कहते हैं।

लोग कहते हैं कि चारित्रका पालन करना कठिन है, पर इसका विवेचन तो करलो कि चारित्र पालन करनेमें कष्ट है या पालन नहीं करनेमें ? बताओ—राग द्वेष करनेमें कष्ट है कि उनके नहीं करनेमें ? क्रोध करनेमें कष्ट है कि उसके नहीं करनेमें ? सभी जानते हैं कि क्रोध करनेमें आत्माको बड़ा कष्ट होता है पर क्रोध नहीं करने और शान्ति पूर्वक बैठे रहनेमें कोईभी कष्ट नहीं होता। इसलिए चारित्रपालन करनेमें कष्ट नहीं है, बल्कि चारित्रके पालन-नहीं करनेमें कष्ट है, जिसका अनुभव हम आप प्रतिदिन कर रहे हैं। सब विदित है, जो भी कष्ट है वह मोह राग द्वेषका ही है।

एक सेठजी अपनी स्त्री और २-३ वर्ष के बच्चेको घरपर छोड़कर व्यापारके लिए विदेशको गये। जब

१२ वर्ष पूरे होगये और सेठजी नहीं लौटे तो उसकी स्त्रीको बडी चिन्ता हुई और उसने लडकेसे कहा—जाओ बेटे, तुम्हारे पिताको परदेश गये १२ वर्ष होगये, अभी तक लौटकर नहीं आए है, सो तुम जाकर उनका पता लगाओ। एक कहकर और सेठजीका नाम–धाम बताकर उसे रवाना करदिया। वह सेठका पुत्र गावों-में उनका पता पूछता हुआ आगे बढता गया। उधर सेठजी भी देशको रवाना होचुके थे और लौटते हुए मार्गमें जिस धर्मशालामें ठहरे थे, भाग्यवश लडका भी राहमें वहीं जा पहुचा और धर्मशालामें ठहर गया। आधीरातमें इसे जोरका पेटमें दर्द उठा, वह दर्दके मारे कराहने-चिल्लाने लगा। चिल्लाहटसे सेठजीकी नींद खुलगई, तो मैनेजरसे कहते है कि यह रातको कौन शोर-गुल मचा रहा है। हम कई रातके जागे है इसे यहासे हटाओ। बेचारा पेटके दर्दसे छटपटा रहा है, पर सेठजीके पास उस दर्दकी दवाके होते हुए भी उनका दिल नही पसीजा और रातमें ही उस बेचारेको धर्मशालासे बाहर करवा दिया। दूसरे दिन सेठजीने तो अपने नगरका रास्ता पकडा और उन बेचारे बच्चेने स्वर्गका रास्ता पकडा जब कुछ दिनोमें सेठजी घर पहुचे तो सेठानीसे बोले, लडका

कहा है। उसने बताया—कि वह तो तुम्हे ही ढूढनेको गया है। क्या मार्गमें उसकी तुमसे भेंट नही हुई ? उसे आज घरसे गये तो अनेक दिन होगये हैं सेठजी घबडाकर उसे ढूढनेको चले। मार्गमें धर्मशालाओंमें पूछते जावें और पता चलनेपर कि हा, वह यहा ठहरा था, आगे बढते जावें। आखिर उसी धर्मशालामें जिसमें कि वह पहले ठहर चुके थे। मैनेजरको अपने पुत्रका नाम बताकर पूछने लगे कि इस नामका एक लडका क्या कभी आपकी धर्मशालामें ठहरा है। उसने रजिष्टर देखकर बताया कि हा सेठजी, जिसरात आप यहा ठहरे थे, उसी रात इस नामका एक लडका यहा ठहरा था। सेठजी स्थितिको भापने लगे, हाथ-पैर कपने लगे। बोले फिर क्या हुआ ? मैनेजर बोला—रातमें बडे जोरसे पेटमें दर्द उठा, उससे वह कराहने चिल्लाने लगा। आपकी नींद खुली तो आपने गुस्सेमें आकर उसे धर्मशालासे बाहर निकलवा दिया। दूसरे दिन आप तो देशको रवाना हो गये और वह बेचारा छटपटाता हुआ मरगया। यह सुनना था कि सेठजी बेहोश होकर गिर पडे और जब होशमें आये तो लगे रोने चिल्लाने और शिरको पीटने।

भाइयो, बताओ, यहा दुःख सेठजी को किससे

हुआ ? मोहसे । जबतक उन्हें उस बच्चेसे मोह नहीं था, तो उसे चिल्लाते-कराहते देखकर भी आह तक नहीं भरी, प्रत्युत निमन होकर धर्मशालासे बाहर निकलवा दिया । जब उन्हें उस बच्चेसे मोह हुआ तो उसकी बात सुनते ही मूर्छित हो गए । इससे पता चलता है कि सारा दु ख मोहमें है । यदि मोह है तो मनुष्य दु खी है और यदि मोह नहीं है तो वह सुखी है । जिस ज्ञानीके अनन्त पदार्थोंमें यह भाव आगया कि जगतमें मेरा कोई नहीं है, उसका बडा भारी दु ख मिट गया । हमें भी जगत्‌के पदार्थोंसे मोह दूर करना चाहिए, तभी हमारा दु ख मिट सकेगा और समभाव प्राप्त हो सकेगा । हम मन्दिरमें उसी समभाव रूप धर्मको प्राप्त करनेके लिए आते हैं । धर्मसे धन नहीं मिला करता । लोग ऐसा समझते हैं कि धर्मसे धन मिलता है, वे भ्रममें हैं । धन तो पुण्यसे मिलता है । इसी प्रकार जो लोग समझते हैं कि धर्मके प्रसाद से सीताका अग्निकुण्ड जल हो गया, वे भूलमें हैं । यदि ऐसा माना जाय, तो जो पाडव नग्न दिगम्बर थे परम तपस्वी और रत्नत्रयके धारक थे, जब उन्हें गर्म गर्म लोहेके गहने पहनाये गये, तो वे ठंडे क्यों नहीं हो गए ? क्या उनका धर्म सीताके धर्मसे कम था ?

गजकुमारके शिरपर मिट्टीकी पाल बाधकर जो कोयले जलाये गये, वे जल क्यों नहीं बन गये ? क्या उनका धर्म सीताके धमसे कम था ? सबका उत्तर यही है कि किसीका भी धम सीताके धमसे कम नहीं था। पर अग्निको ठडा करना या पानी रूपमें परिणत कर देना यह धमका काय नहीं है, किन्तु पुण्यका काय है। सीताके ब्रह्मचर्याणुव्रतरूप शील था, अणुव्रत के साथ जो रागभाव या शुभपरिणाम रहता है, उससे पुण्यबन्ध होता है। वही पुण्य अग्नि परीक्षाके समय सीताके प्रगट हुआ और अग्निकुड जलरूपसे परिणत हो गया। धमका काम कर्मोंका नाश करना है सो पाडवोके, गजकुमारके या इसी प्रकार दारुण उपसग सहने वाले अन्य अन्तकृत् केवलियोके कर्मोंका नाश धमने किया ही है। इससे सिद्ध हुआ कि धमसे धन वैभवादि नहीं मिलता है किन्तु परम अतीन्द्रिय, अनुपम और स्वाधीन आत्मसुख मिला करता है।

स्वरूपमें चलना चारित्र है। किससे ? ज्ञानसे। अर्थात् ज्ञानका ज्ञानमें रहना ही चारित्र है। स्वसमय में निजात्मामें प्रवृत्ति करनेको चारित्र कहते ह। अपने शुद्ध ज्ञान दशन स्वरूपमें ठहरना चारित्र है और यही आत्माका स्वभाव होनेसे धर्म कहलाता है। धम

शब्दका अर्थ 'धरना' है। जो मिथ्यात्व, रागादिरूप भावससारमें पडे हुए प्राणीका उद्धार करके निर्विकार - शुद्ध चैतन्यमें धरे, स्थापित करे, उसे धम कहते हैं। वही धम स्वात्मभावनोत्पन्न सुखामृतरूप शीतल जलके द्वारा काम-क्रोधादिरूप अग्नि-जनित ससार-दु ख दाह का उपशामक होनेसे शम कहलाता है। शुद्धात्मश्रद्धान-रूप सम्यक्त्वके नाश करनेवाले दशन मोहको 'मोह' सज्ञा है। तथा निर्विकार निश्चल चित्तवृत्तिरूप चारित्रके विनाश करनेवाले चारित्रमोहको 'क्षोभ' कहते ह। इन मोह और क्षोभके अभावको ही सम कहते हैं और उस सम भावका नाम ही धम है। शुद्ध चैतन्यका प्रकाश होना धम है। यथावस्थित वस्तुका तद्रूप रहना ही साम्य कहलाता है। आत्माके अत्यन्त निर्विकार परिणामको साम्य कहते हैं। परके निमित्तसे विकारी नहीं होना, निर्विकारी रहना ही सम या शम कहलाता है। इस प्रकार यह फलितार्थ हुआ कि दर्शनमोह और चारित्रमोहके उदयसे उत्पन्न होनेवाले मोह और क्षोभसे रहित, अत्यन्त निर्विकार जीवके परिणामको साम्य कहते हैं। साम्यभाव, धम और चारित्र ये तीनो एकार्थवाची नाम जानना चाहिए।

यदि निर्विकारी भाव अधिक समय तक स्थायी

नही रहते है, धर्मसाधनमें चित्त अधिक काल तक नहीं लगता है, तो देवपूजा आदि अनेक कार्य भी करनेको बाकी है, उनमें मनको लगाना चाहिए। धर्मके बाह्य साधनोंमें रहना पड़कर भी अन्तरग साध्यको प्राप्त करनेका लक्ष्य सदा रखना चाहिए। क्षेत्र ससारसे डरनेकी जरूरत नहीं, उससे डरकर कहा भागोगे ? सिद्ध भी तो ससारके भीतर ही रहते हैं, भलेही वह लोकका शिखर ही क्यो न हो। इसलिए हमें ससारमें रहनेका डर नहीं होना चाहिये। हाँ, इस बातका सदा ध्यान रखना चाहिए कि हममें ससार न आजाय। नावके पानीमें रहनेका डर नहीं होता, पर नावमें पानीके रहनेसे डूबनेका डर रहता है। इसी प्रकार यदि हम मोह-क्षोभ रहित होकर ससारमें रहते है, तो डरकी कोई बात नहीं है, पर यदि हममें ससार रहता है, मोह क्षोभ परिणाम रहता है, तो अवश्य डरनेकी बात है। जब नावमें पानी रहेगा, तो उसके डूबनेका भय बनाही रहेगा। इसलिए नावमें पानी नहीं आने देनेके समान आत्मामें राग द्वेषका प्रवेश मत होने दो। अपनेको सदा राग द्वेष, मोहसे दूर रखो, केवल ज्ञाता दृष्टा ही बने रहो।

विकारोमें प्रधान विकार काम और क्रोध है।

काम नाम मैथुनेच्छाका है । पुरुषवेदको तृणकी अग्निके समान, स्त्रीवेदको कारीष (कडा) की अग्निके समान और नपुंसक वेदको इष्टपाक (ईंटोकेभट्टा) के समान बताया गया है । तृणकी अग्निसे कडेकी अग्नि तेज और अधिक काल तक रहती है । तथा कडेकी अग्निसे ईंटोंके भट्टेकी अग्नि और भी अधिक तेज और बहुत समय तक रहती है । इसी प्रकार पुरुषवेदीसे स्त्रीवेदीकी और स्त्रीवेदीसे नपुन्सक वेदीकी कामाग्नि उत्तरोत्तर अधिक तीव्र होती है । जब तक मनुष्यके हृदयमें यह कामाग्नि धधकती रहेगी, तब तक उसकी परिणति धर्मकी ओर हो ही नहीं सकती । इसलिए सबसे पहले हमें कामभावपर विजय पानेका प्रयत्न करना चाहिए । काम भावपर विजय पानेकेलिए आवश्यक है कि रागवर्धक, उत्तेजक आहार,विहारसे दूर रहा जाय कुशीलियोंकी संगतिसे बचा जाय । शृङ्गारके साधनोंको पासमें न फटकने दिया जाय । स्त्री पुरुष आपसमें एक दूसरेके मनोहर अंगोंको न देखें, पूर्वमें भोगे गये भोगोंका स्मरण न करें, गरिष्ठ और वाजीकरण पदार्थोंका सेवन न करें, शरीरको न सजायें, विषयसेवनकी कथाए न करें, तो कामभावपर विजय पाना आसान हो जायगा ।

इसी प्रकार क्रोधकेलिए भी लोकमें अग्निकी उपमा दीजाती है देखा भी जाता है कि क्रोध करनेके समय क्रोधीका चेहरा लाल हो जाता है, आंखें चढ जाती ह, मुखाकृति भयानक हो जाती है। कहीं लिखाभी है, यद्यपि यह श्लोक अशुद्ध है, तथापि यह सवत्र प्रसिद्ध है —

मुनीना कोपचाण्डाल, पशुचाडाल गर्दभ ।
पक्षिणा काकचाडाल, सर्व चाँडाल निन्दक ॥

यदि मुनियोंमें कोई चाँडाल है, तो क्रोध ही है, पशुओ में चाडाल गदहा है, पक्षियोमें चाडालकाकहै और निन्दा करनेवाला सबसे पतित चाडाल है। देखिए क्रोधकी तीव्रतासे द्वीपायनने अपना और द्वारिकाका नाश किया। क्रोधसे अपना पराया दोनोका अहित होता है, पर क्रोधी को क्रोधके समय कुछ सूझता नही है। जिसमें क्रोध हो, उसमें साधुता कैसी ? और सबसे बडा चाडाल तो निन्दकको कहा है। निन्दक दूसरेके दोषोको देख देखकर न जाने दोषोका कितना बडा पहाड बना देता है। निन्दा करनेसे न अपनी ही कोई भलाई है और न परकी ही। उल्टी हानि ही हानि है। यदि किसी के दोषोको दूर करवाकर उसे निर्मल बनानेकी ही इच्छा हुई हो, तो उसे एकान्तमें जाकर समझाओ,

आपकी सत्य आत्मावा नियमसे उसपर असर पड़ेगा। त्यार आदमियोमें निन्दा करके, उसे डांट करके तो आप बालकको भी नहीं समझा सकते। यदि एकान्त में शान्तिपूर्वक बालकको समझाया जाय, तो वह भी प्रसन्नतासे उसे स्वीकार कर लेता है। समाजमें भी विद्रोहके कारण ये ही निन्दक लोग हैं। निन्दकके कहा समताभावकी आशाकी जा सकती है? और नहीं, तो अपनी ही दया करना चाहिए। निन्दासे खुद का कितना महान घात होता है, इसका वर्णन करना अशक्य है। यदि निन्दक लोग अपनी आदत नहीं छोड सकते हैं, तो निन्दा सुननेवाले भी वस्तुकी स्वतन्त्रता जानकर उसे सुनकर अपने भीतर क्षोभ उत्पन्न न होने दें, बल्कि उपेक्षाभाव ही रखें। इसी प्रकार काम, क्रोधको ही आप अग्नि न समझें, सभी कषायें अग्नि हैं। उन कषायाग्नियोंसे उत्पन्न होनेवाला जो ससार दुख दाह है, उसका उपशमन चारित्र परिणाम करता है, इसलिए इसका नाम शम है।

इस चारित्रकी स्थिरता सम्यग्ज्ञान बिना नहीं हो सकती। ससारके सारे पदार्थ हैं तो अपनेसे भिन्न, पर जो इन्हें अपने समझता है, उसका तो परलक्ष्य होगा तो, स्थिरता कहाँसे आवेगी? जो पदार्थको अपने...

नानाप्रकारके सकल्प-विकल्परूप जो क्षोभ उत्पन्न होता था, वह भी दूर होजाता है और परिणामोंमे शमभाव या प्रशमगुण प्रगट होजाता है उसे अपने कर्त्तव्य काय और गतव्य मागका प्रकाश मिल जाता है। इस प्रकार मोह और क्षोभके दूर होनेसे जो प्रकाश, जो प्रशमभाव, जो समताभाव आत्मामें प्रगट होता है, उसे ही धम कहते ह और उसीका नाम चारित्र है।

धम डूबा कहने वाले धमका स्वरूप ही नहीं समझते ह, सासारिक पदार्थोंकी, विषय वासनाओंकी चाह ही अधम है और पर पदार्थोंकी चाहका अभाव होना, विषयाभिलाषाका मिटना ही धर्म है।

अथात्मनश्चारित्रत्व निश्चिनोति—

चारित्र आत्मस्वरूप ही है, इसका वर्णन किया जाता है। चारित्र कोई पर पदार्थ नहीं है, कि उसे कहींसे उठालो। बल्कि यह आत्माका ही स्वरूप है, इस बातको बतलाते हैं। यहा पर अन्य क्रियापद न देकर 'निश्चिनोति यह जो पद प्रयोग किया है, इसमें भी रहस्य है। निस् उपसगपूर्वक 'चि चयने' धातुसे 'निश्चिनोति' पद बना है। तदनुसार इसका अर्थ यह होता है कि नि शेषरूपसे, सामस्त्य या अविकलरूपसे चारित्रका चयन करते हैं। जैसे व्यवहारमें 'कहते हैं,

बोलते है और बकते है, इन तीनोके अर्थ भिन्न भिन्न है, इसी प्रकार संस्कृतमें भी उपसर्ग लगनेसे शब्दोका अर्थ भिन्न भिन्न होजाता है। यहाँ निश्चिनोति शब्दका रहस्य है–नि शेषेण चिनोति अर्थात् सर्व प्रकारसे संग्रह करते है जहाँ आत्मामें और चारित्रमें भेदकी प्ररूपणा न रहे ऐसा निर्णय या निश्चय करते है—

प्रश्न—क्या वास्तवमें आत्मासे चारित्र भिन्न है, जो अब आत्माके साथ उसके अभेदका निर्णय करते है ?

उत्तर—हा, गुण गुणोकी अपेक्षा भेद है। आत्मा गुणी है और चारित्र उसका गुण है ऐसा समझनेके समय वह प्रयोग होता है। परंतु गुणीको छोडकर गुण अन्यत्र रह नहीं सकता, अतएव वह तद्रूप ही है अर्थात चारित्र आत्मस्वरूपमय है, अभिन्न है।

गाथा–परिणमदि जेण दव्व तक्काल तम्मयत्ति पण्णत्त।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो ॥८॥

अर्थ—जो द्रव्य जिस कालमें जिस रूपसे परिणमित होता है, वह उस कालमें उस भावमय अर्थात् तन्मय हो जाता है। जैसे उष्णतारूपसे परिणमता लोहपिंड उष्णरूप ही हो जाता है। इसी प्रकार धर्मसे परिणत आत्मा धर्मरूप जानना चाहिए ॥८॥

सभीका अभाव हो जायगा ।

जहां परमाणु-परमाणुका भी बन्ध होता है, वहा भी कोई किसीको स्निग्ध या रूक्ष नहीं करता है। वहा रूक्ष परमाणु स्वय ही स्निग्धरूपसे परिणत हो जाता है । अग्निके सम्बन्धसे ठडा घी स्वय ही उष्ण हो जाता है। ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। यह काचका गोला (पेपरवेट) हाथसे उठाकर इधर से उधर रखा, तो क्या हो गया ? यह वस्तु अपने ही आधार है, केवल इस स्थानसे हटकर उस स्थान पर आ गई, यह स्थान परिवर्तन यद्यपि एक अपेक्षासे निमित्ताधीन है, क्योंकि निमित्तकी उपस्थितिके बिना उक्त परिणमन तो नहीं होता ? परन्तु हाथ की क्रिया हाथमें है और गोलेकी क्रिया गोलेमें हुई है ।

जीवोके परिणाम तीन प्रकारके बतलाये गये है– अशुभ, शुभ और शुद्ध । सक्लेशरूप परिणामोको अशुभ, भक्ति दया-दानादि रूप परिणामोको शुभ और सकल्प विकल्प, राग द्वेषादि रहित परिणामोंको शुद्ध कहते ह । इनमें अशुभ परिणाम अधमरूप हैं और शुद्ध परिणाम धम रूप है । मध्यवर्ती जो शुभ परिणाम ह, वह किस रूप है ? धमके होनेपर भी जो अधमरूप प्रवृत्ति होती है, वस्तुत उसे शुभ रूप

कहते है कर्ज चुकानेपर भी जो कर्ज शेष रहता है, उसके समस्थानीय शुभ परिणमन – इसका अभिप्राय यह है कि स्थूल अधर्मके नाश होनेपर जो सूक्ष्म अधर्म शेष रहता है वहुतसा कर्ज चुका देनेपर भी जो कर्ज बाकी रह जाता है, वह शुभमें परिगणित होता है। पर मिथ्यादृष्टिके स्थूल अधर्मका नाश है ही नहीं, अत उसका शुभ परिणाम भी अधर्मरूप ही है और इसलिए उसे भवबन्धकारक ही माना है।

प्रश्न–धर्म अधर्मकी सीधी सरल परिभाषा क्या है ?

उत्तर–जो आत्माके सहज स्वभावरूप हो, वह धर्म है और जो आत्माके सहज स्वभासे प्रतिकूल रूप हो वह अधर्म है।

प्रश्न–धर्म और अधर्म किसके होते है ?

उत्तर–– यत धर्म जीवका स्वभाव है अत वह जीवका है और अधर्म पुद्गलके निमित्त बिना होता नही है, अत वह कर्मका है। मयूरका परिणमन मयूरमें रहेगा, और दर्पणमें आनेवाला आकार दर्पणमें रहेगा, अत दर्पणगत आकार दर्पणका ही समझना चाहिये फिरभी मयूरकी सन्निधि बिना नहीं हुआ अत मयूरका है। इस तरह अशुभोपयोग पराश्रित

भाव है। और शुभोपयोग भी पराश्रित भाव है।

ज्ञानीका लक्ष्य शुभोपयोगमें नहीं रहता शुभोपयोग रागात्मक है जब राग है, तब चारित्र नही है और चरित्र है, तब राग नहीं है। जो द्रव्य जिस कालमें जिस रूपसे परिणत होता है, उस समय वह उसी रूपसे है। जिम समयमें आत्मा सम्यग्दशनगुणसे परिणत हो रहा है, उस समय वह उसी रूप है। द्रव्य अपने पर्यायमय ही होता है। किसी द्रव्यका गुण पर्याय किमी अन्यमें नहीं पहुचता। वस्तुके सवस्व को उसी वस्तुमें देखो, तो स्वातन्त्र्यका जल्दी पता लग जावेगा। निमित्त-नमित्तिकके प्रसारोने वस्तुके पर्याय, स्वभाव आदिके शीघ्र यथाथ जाननेमें साधारण लोगोको अडचनें लगादी है। परन्तु तक वितकके बाद शीघ्र ही समझमें आजायगा कि निमित्त नमित्तिकता तो इतनी है और वस्तुस्थिति यह है।

इसी निमित्त-नैमित्तिकताको एक दृष्टान्त से स्पष्ट करते ह—यह फैला हुआ प्रकाश जो हमें दिखाई देरहा है, और जिसे लोग सूर्यका समझते हैं, वह सूयका नहीं है। किन्तुजो चीजें हमें दिखाई दे रही हैं, उनका है। द्रव्यके गुण पर्याय द्रव्यमें ही रहते है, बाहर नहीं जाते। अत सूयका आताप, सूयका प्रकाश

भी सूर्य बिम्बके भीतर ही रहेगा, बाहर नही जावेगा। सूर्यका निमित्त पाकर यहाके पदार्थ अपनी अधकार पर्यायको छोडकर प्रकाशरूप पर्यायसे परिणत होरहे है अत यह प्रकाश इन्हीं पदार्थोका जानना चाहिए। इसी प्रकार अगुलीकी पडनेवाली यह छाया अगुलीकी नहीं है, वृक्षको पृथ्वीपर दिखनेवाली यह छाया वृक्षकी नहीं है। अगुलीकी छाया अगुलिमें और वृक्षको छाया वृक्षमें ही है। पर यह जो छाया दिखाई देरही है, यह तो अगुली या वृक्षके निमित्तको पाकर इस स्थलवर्त्ती भूमिके प्रदेश स्वय छायारूपसे परिणत हो रहे हैं। भोजन करते हुए हम जो आम खानेका आनन्द मानते हैं, वह आनन्द आमका नही है। किन्तु आमके निमित्तको पाकर जो हमारे भीतर, कल्पना द्वारा सुख गुण प्रकट हुआ, उसका आनन्द है। इसी प्रकार अच्छे घरमें रहने स्त्रीका सुख भोगने आदिमें जो यह जीव आनन्द मानता है, तो यह आनन्द मकान या स्त्री आदिका नहीं है, किन्तु उनके निमित्तको पाकर आत्मा का जो सुख गुण किसही रूप सही प्रगट होता है, वह आनन्द उस सुख गुणका है। हर प्राणी प्रति समय सुख हो तो अपनाही सुख भोगता है। पर मिथ्यात्वी कहता है कि मैं अमुक पदार्थका सुख भोग रहा हू।

'आत्मा पुत्राय न कामयते, आत्मा आत्मने कामयते ।

इस वेद वाक्यका अर्थ यही है कि मनुष्य पुत्रके लिए सुखकी कामना नही करता है, अपने लिए ही सुखकी कामना करता है ।

एक बारकी बात है कि गगाकी बाढ आई, चारो ओर पानी फैल गया । एक बदरी अपने बच्चेको लेकर एक ऊचे मकानपर चढ गई । जब बाढ वहा तक पहुची, तो वह खडी होगई । जब बाढ उसके गले तक पहुची, तो वह अपनी जान बचानेकेलिए अपने बच्चेको नीचे करके उसके ऊपर चढ गई । कहनेका भाव यही है कि जब तक अपनी जान पर नौबत नही आती, तब तक ही वह दूसरोसे प्रेम करता रहता है । किन्तु जब उसके जानपर आती है, तो वह सबके प्रेमको भुलाकर अपनी ही चिन्ता करता है । इससे यही अर्थ निकलता है कि सभी लोग अपने अपने सुखको चाहते है । स्त्री जो पतिसे प्रेम दिखलाती है, यदि वास्तवमें देखो, तो वह पतिसे नहीं, अपने आपसे प्रेम करती है । स्त्रीका प्रेम उसमें है, अत वह उसमें तन्मय होगी, वह मुझमें नहीं आसक्ता । यदि एकका परिणमन दूसरे रूपसे परिणत हो जाय, तो भारी गडबडी होजाय । मिलमें सब मनुष्य अपने-

अपने स्थानपर काय कररहे ह, सबको क्रिया स्वतत्र है। सब अपनी धुनमें है। परन्तु निमित्तके योगसे ऐसा लगता है कि यह परिणमन अमुकके निमित्तसे हो रहा है। निमित्तसे कहीं परिणति नहीं होती।

गावोंमें अवसर कहा करते ह कि यदि तुम मदिर पूजनको नहीं जा रहे हो, तो बच्चेको भेज दो। मानो बच्चेके पूजन करनेसे उसका फल इन्हे प्राप्त हो जायगा। पर किसीके पूजन करनेका फल किसी औरको नहीं मिला करता है, जो पूजन करेगा, उसे ही उसका फल मिलेगा। हा, जिसने बच्चेको पूजनके लिए भेजा है, उसके जो भाव पूजन करानेके हुए ह, कषाय मन्द हुई है, उसका फल उसे मिलेगा। इसी प्रकार लोग जो सिद्धचक्र विधान कराते हैं, समवसरण मडल या त्रैलोक्यमडलविधान कराते ह, वहा पर भी यही बात है। वहाभी पूजनका फल तो पूजन करने वालोको ही मिलेगा। हा, कराने वालोंके जो भाव पूजन करानेके हुए और उनकी जो कषाय मन्द हुई, पूजनके निमित्त द्रव्य लगाया, उसका फल उन्हे मिलेगा, पर पूजा करनेवालोका फल उन्हे नही मिल सकता, वह तो पूजा करनेवालोको ही उनके भावोके अनुसार उन्हें मिलेगा। इस प्रकार सब जगह निमित्त-नैमित्तिक

है, तब वहअशुभ कहलाता है और जब शुद्धभावसे परिणमता है, तब शुद्ध कहलाता है। इस प्रकार विभिन्न परिणामोके योगसे जीवके तीन रूप हो जाते है।

वस्तुके यथाथ स्वरूपको समझनेके लिए जो प्रयत्न होता है, उसे श्लाघ्य शुभोपयोग कहते है। गृहस्थकी अपेक्षा सरागसम्यक्त्वपूवक दान देना, पूजा करना, गुरुसेवा करना, वारह व्रतोका पालना आदि कार्य शुभोपयोगरूप है। साधुकी अपेक्षा अट्ठाईस मूलगुणो और चौरासी लाख उत्तर गुणोका पालन करना, उनके वढानेमें उद्यत रहना सो शुभोपयोग है। चौथे गुण स्थानसे लेकर छठे गुणस्थान तकके ज्ञानियोके यह शुभोपयोग पु छल्लाके समान लटका ही रहेगा। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषायादि रूप अशुभ परिणतिको अशुभोपयोग कहते है। आर्त्त-रौद्रध्यान रूप जो अशुभ क्रिया होती है, उसे ही अशुभयोग जानना चाहिए। हिंसादि पाच पाप रूप प्रवृत्ति अशुभोपयोग है और अहिंसादि पाच व्रतरूप प्रवृत्ति शुभोपयोग है। पुण्य और पापरूप दोनो प्रकारकी प्रवृत्तियो से रहित शुद्ध आत्माभिमुखी प्रवृत्ति या परद्रव्यके सम्पर्कसे रहित निवृत्तिरूप परिणतिको शुद्धोपयोग कहते है। यह शुद्धोपयोग तारतम्य क्रमसे सातवें गुण-

स्थानसे लेकर ऊपर-ऊपरके गुणस्थानोंमें क्रमश वृद्धिगत होता जाता है।

आज लोग दूसरोंकी निन्दा करते है, त्यागी, व्रती और साधुवोंकी भी निन्दा करते है और कहते हैं कि उसमें 'यह कमी है, वह कमी है', इत्यादि। पर क्या आप लोगोंने अपनी ओर भी कभी देखा है ? जब श्रावकोंने स्वय शुद्ध भोजन करना छोड दिया, फिर साधुवर्ग क्या करे ? व्यवहार धर्मके आधार श्रावक हैं। जिन भगवान् की प्रतिदिन पूजन करना और व्रती, त्यागियोंको भक्तिपूर्वक दान देना श्रावकोंका प्रधान कर्त्तव्य कहा गया है। जो गृहस्थाश्रममें रहकर भी उक्त दोनों कार्य नहीं करता है, पद्मनन्दि आचार्य कहते हैं कि उसे तो गहरे जलमें प्रवेश करके गृहस्थाश्रमके लिए जलाञ्जलि दे देना चाहिए।

पूजा न चेज्जिनपते पदपकजेपुदान न मयतजनाय च भक्तिपूर्वम। नो दीयते किमु तन सदवस्यताया शीघ्र जलाञ्जलिरगाधजले प्रविश्य ॥

सदाचारी, विचारवान् और व्रती श्रावकोंसे ही श्रावक और मुनि दोनोंका मार्ग चलता है। पहले दातार शुद्धभोजी थे, तो मुनियोंको भी शुद्ध भोजन सहजमें प्राप्त हो जाता था। साधुजन गृहस्थोंके यहा

जैसा खाते हैं, तदनुसार उनकी मनोवृत्ति हुग्रा करती है ऐसी प्राय लोकोक्ति है कि 'जसा खावे अन्न, वसा होवे मन । जसा पीवे पानी, वैसी बोले बानी ।' लोग शुद्धोपयोगकी चर्चा करके भी शुभोपयोग तक में भी कदम ही नहीं रखना चाहते, तो बताओ वे लाभमें रहेंगे या हानिमें ? शुष्कचर्चासे मोक्षमाग नही चलेगा। शुद्ध तत्त्वकी दृष्टिका दृढ प्रक्रियासे मोक्षमार्ग होगा । श्रद्धाकी बात श्रद्धाकी जगह है, पर करनेकी बात करनेकी जगह है हम लोग बढते भी ह तो अफसोस करके ही रह जाते ह । सहारनपुरकी बात है, उस समय मेरे नवमी प्रतिमा थी । मै ग्रहार करनेके लिए गया । भक्त दातारने ताजे गुलाबजामुन बनाए थे, मैने एक उठाकर जसे ही मुखमें डाला कि मेरी आखो से आसू निकल पडे । दातार देखकर घबडा गया कि कही मेरे गुलाबजामुन कडुवे तो नही होगए हैं ? आहारके अनन्तर उसने आसू आनेका कारण पूछा । मैने कहा, गुलाबजामुन तो मीठे ही थे । पर जब मैं भोजनके पूर्व सिद्धभक्ति कर रहा था, तब मेरे भाव हुए कि देखो, जीवको खाते-खाते अनन्तकाल व्यतीत हो गया, असख्य बार इस उत्तमसे भी उत्तम भोग्य पदार्थोंको इसने भोग भोगकर छोड दिया, फिर भी

यह उन उच्छिष्ट पदार्थोंको खानेके लिए उत्सुक रहता है ? इन विचारोंमें डूबा हुआ मैं जब भोजन करने बैठा, तो गुलाबजामुनको मुखमें रखते ही मेरे आखों से आसू निकल पडे।

भोजनके पहले और पीछे जो सिद्ध भक्तिकी जाती है, उसका क्या रहस्य है ? पहले की जानेवाली सिद्धभक्तिका तो यह रहस्य है कि जिस भोजनको करने जा रहे हो, मानो तुम भोजनसे मोर्चा लेने जा रहे हो, उसमें कही तुम्हारी आसक्ति न हो जाय और तुम मोर्चेमें असफल हो जाओ। अन्तमें जो सिद्धभक्ति की जाती है, उसका यह अभिप्राय है कि भोजन करते हुए यदि कहीं मैं आसक्त हो गया होऊ, कोई भूल हो गई हो, तो उसकी आलोचना तुरन्त करली जाय, सँभाल करली जाय। यह सिद्धभक्ति क्या है ? निज रूपकी सभाल ही तो है ? गृहस्थोंका प्रत्येक काय रहस्यसे भरा हुआ है, अत जिस कामको भी करो, उसके रहस्य जाननेका प्रयास करो, जबतक रहस्य समझमें न आवे, तब तक उसके जाननेका प्रयत्न जारी रखो। अरहन्त भक्तिका क्या रहस्य है ? मित्रता और सही भक्ति बराबरवालोंमें ही हुआ करती है। मुमुक्षुओंको मोक्षमार्गपर चलते हुए बार-बार किसका

ख्याल आयगा ? मोक्षमार्गियोका ही आयगा। यही अरहंत भक्तिका रहस्य है। हम भी मोक्षमार्गी हैं, अत उसपर चलते हुए हमें भी अरहंतोका ध्यान आना ही चाहिए। यदि प्रात काल मन्दिरमें अधिक भीड भाड होनेसे हमारा ध्यान पूजनमें नहीं लगता है, तो हमें दोपहरमें आकर भगवानकी पूजन करना चाहिए। पूजन करते समय हमारी दृष्टि भगवान्पर, उनके गुणस्मरणपर ही रहनी चाहिए। दूसरे किसी पदार्थपर हमारी दृष्टि नहीं जाना चाहिए।

प्राय लोग औरोको खुश करनेकेलिए देवपूजा आदि कार्य किया करते हैं। पर यह उनकी भूल है, सबको तो खुश कोई रख ही नही सकता। इसलिए औरोको खुश करनेकी दृष्टि छोडकर अपने कर्त्तव्य पालनकी दृष्टि रखना चाहिए। एक कथा है कि किसी सेठजी के चार लडके थे और उनके पास पाच लाख रुपया था। उन्होने एक-एक लाख लडकोको देकर न्यारा कर दिया और एक लाख रुपया अपनेलिए रख लिया। सेठजीने छोटे लडकेको बुलाकर कहा-- देखो बेटे, जाति-बिरादरीमें अपनी पोजीशन मान-प्रतिष्ठा बनाये रखनेके लिए जाति वालोको खिलाते-पिलाते रहना चाहिए। छोटे लडकोने पिताकी बात

मानकर बिरादरीवालोका निमन्त्रण किया, सात प्रकारकी मिठाई बनवाई और हर्षपूर्वक सबको खूब खिलाई। लोग आपसमें बातें करने लगे, इस बदमाश ने अधिक धन मार लिया है, तभी यह खुशीमें लोगो को लड्डू खिला रहा है। कुछ दिनोके पश्चात दूसरे भाईने जातिवालोका निमन्त्रण किया पर उसने सात की जगह पाच प्रकारकी ही मिठाई बनवाई। लोग खाकर बोले—यह और भी बदमाश मालूम पडता है, इसने माल तो अधिक रख लिया और पचोको पच-पचीमें ही टिरकाता है। कुछ दिनोके बाद तीसरे भाई ने जातिवालोका जीमनवार किया और दो एक किस्म की मिठाई और पूडी शाक खिलाई। लोग बोले, यह उससे भी अधिक बदमाश मालूम पडता है। कुछ दिनोके बाद सबसे बडे भाईने जाति वालाकी जीवन-वारकी और केवल पूडी शाकही बनवाई। लोग खाकर बोले यह सबसे अधिक बदमाश मालम पडता है, सबसे बडा लडका है चाबी इसके पास थी धन तो सब रखलिया होगा अपने पास और हम सबको पूडी-शाकमें ही टिरका दिया। कहनेका साराश यह हैकि सबको खुश रखनेका कोई उपाय नहीं है। और न कोई सबको खुश रख ही सकता है। इस लिए हमें

कोई भी काम व विशेषता धर्मसाधन दूसरोको खुश रखनें के लिए नहीं, बल्कि अपने ही कर्त्तव्य पालनकी दृष्टिसे करना चाहिए दुनियाको प्रसन्न कौन रख सकता है ? अतएव सबको अपनी मान-मर्यादा सामने रखकर कर्त्तव्य पालन करना चाहिए। दूसरोंके खुश करनेकी चिन्ता व्यर्थ है।

मोक्षमार्गको पहले अरहत-सिद्धका स्वरूप समझना चाहिए। जैसा अरहत सिद्धका स्वरूप है, यदि यह न समझ पाया तो करोगे क्या ? अपने स्वभावकी और उनके आश्रयसे वैसे पर्याय स्वभावकी एकत्व-सन्धि लगाना ही मोक्षमार्ग है।

प्रश्न--जीवमें जो शुभ परिणाम होता है, वह स्वभावसे होता है, या निमित्तकी उपस्थितिसे ?

उत्तर--जीवमें शुभपरिणाम निमित्तकी उपस्थिति से होता है। शुभोपयोगमें कर्म तो निमित्त है और मूर्त्ति आदिक आश्रय है परन्तु उपादानदृष्टिसे वस्तु स्वदृष्टि देखोतो जीवकी परिणतिसे जीवका परिणमन होता है। यदि बाह्य और अन्तरग कारणोके योगसे मेरे शुभोपयोग होता है, तो होने दो, पर ज्ञानी अपने आत्मस्वभावमें शुभोपयोग की प्रतिष्ठा नहीं होने देता। शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनोही कर्म-

प्रेरित ह, पर भेद तीव्र मन्दताका है। जब कषायोंका उदय तीव्र होता है। तो अशुभोपयोग होता है और जब कषायोका मन्द उदय होता है, तब शुभोपयोग होता है। स्फटिकमणिमें जो जपा आदिके योगसे रग दिखता है, वह क्या स्फटिकका है ? नहीं। वह तो परके सबन्धमे दिखरहा है और उसका सम्बन्ध दूर होतेही मिट जायगा। मै भीतर घुसके कह रहा हू, हमें सिद्धोका लक्ष्य रखकर काय करना चाहिए। जिहोने सिद्धोको रखकर निजशुद्ध परमात्माके लक्ष्य से अपनी दृष्टि निर्मलकी, वे ही शुद्धोपयोगमें पहुचे। मेरा उद्यम शुद्धोपयोगकेलिए है, पर जो उद्यम है, वह शुभोपयोग है शुभोपयोगके बिना काम नहीं चलता। और उसे पकडे रहनेसे भी काम नहीं चलता। जब यह जीव अशुभोपयोगसे परिणत होता है, तब अशुभ कहलाता है। जब यह शुभोपयोगसे परिणत होता है, तब वह शुभ कहलाता है और जब यह शुद्ध ज्ञाता दृष्टा रूपसे परिणत होता है तब वह शुद्ध कहलाता है। यही जीव अपराध करता है और यही उससे मुक्त होता है। जसा करेगा, सो वैसा भरेगा। कोई तो क्या भगवान् भी किसीको सुख दुख नहीं नहीं देते। निमित्त होनेकी बात दूसरी है। विपापहार

स्तोत्रमें कहा है—

उपति भक्त्या सुमुख सुखानि, त्वयि स्वभावाद्विमुखश्च दु खम् । सदावदातद्युति रेकरूप, स्तयोस्त्वमादर्श इवावभासि ॥

हे भगवान् हे ज्ञानमय तत्त्व, जो रुचिश्रद्धा पूवक तुममें अभिमुख होता है, वह स्वभावसे ही सुखको प्राप्त करता है और जो तुमसे विमुख रहता है वह स्वत ही विभायके परिणमनसे दु खको प्राप्त करता है। पर हे प्रकाशमान चतन्य, तुम तो उन दोनो ही दशाओंमें सदा एक आदश (दर्पण) के समान शोभायमान होतेहो।

इससे भी यही अथ निकलता है, कि भगवान् किसीको कुछ देते नही ह। भक्त ही अपनी भक्ति और भावनाके अनुसार भला या बुरा फल पाया करता है। भगवान् न किसीको सुख देते हैं और न किसी को दु ख ही। जिसकी भावना सदा अच्छी रहेगी, वह सुख पायगा, और जिसकी भावना बुरी रहगी, वह दु ख पायगा, भगवान तो केवल आश्रय विषय-मात्र है और सुख दुखमें हमारे भाव निमित्त हैं। यदि आपका लक्ष्य निरन्तर शुद्धतत्त्वके लक्ष्यवाला शुभोपयोग रूप रहेगा, तो आप परीक्षामें अवश्य

उत्तीर्ण होगे शुद्धोपयोगमें चलनेका मार्ग शुभोपयोग है। किन्तु यदि उसके लक्ष्यमें शुभोपयोग आजाय, तो उसका मार्ग ही बन्द हो जायगा।

इस समय शुभोपयोग पर्यायमें है, शुद्धोपयोग लक्ष्यमें है, क्या क्हा कसा है, यह बात यथाथ समझना चाहिए, सम्यग्ज्ञान यही है कि जो जसा है, उसे वैसा ही समझे, हीनाधिक नहीं। समन्तभद्राचार्यने सम्यग्ज्ञानका यही स्वरूप कहा है--

अन्यूनमनतिरिक्त याथातथ्य विना च विपरीतात्।
निःसन्देह वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिन ॥

वस्तुके स्वरूपको न्यूनतारहित, अधिकतारहित, विपरीततारहित और सन्देहरहित यथाथ जाननेको आगमके जानकारोंने सम्यग्नान कहा है। प्रश्न--क्या किसी खास कामका नाम शुभोपयोग है ? उत्तर--किसी खास कामका नाम शुभोपयोग नहीं है, किन्तु जो काम शुभपरिणामोसे सम्पन्न होते ह, शुभभावसे युक्त हे, जिनके करनेसे किसी जीवको भी किसी प्रकारका कोई कष्ट नहीं पहुचता उन कामो का नाम शुभोपयोग है। मन, वचन, कायकी क्रिया, विनयरूप होना, जीवरक्षारूप होना, दान देने रूप होना ये सब शुभोपयोग ही है। जब तक जीव अपनी

परिणतिको शुभसे शुभतर नहीं बनाता, तब तक वह शुद्धोपयोगी भी नहीं बन सकता। मोक्षमार्गकी पटरीपर चलनेके लिए पूर्ण सावधानीकी आवश्यकता है।

अन्तरगमें भावना जागृत करो जिसकी भावनामें शुद्धोपयोग है, वह भावना तो शुभोपयोगरूप पर्याय है, परन्तु उसका जो लक्ष्य है, वह शुद्ध है। शुभोपयोग हमारा खड ज्ञान है। परन्तु जो शुद्ध निजवस्तुका लक्ष्य करके बना है, वह अखड तत्त्व शुभोपयोगमें विद्यमान है अर्थात् अखडका खडज्ञान है। खडमें अखड विराज रहा है, बताओ जिसमें अखण्ड विराज रहा है वह खडरूप कब तक रहेगा? एक दिन वह भी अखड होजायगा। आप स्वय कल्पवृक्ष हैं, किससे क्या याचना कर रहे हो? जैसी भावना होती है, वह आत्माको अवश्य मिलता है। एक-एक वस्तुकी बात तो नहीं कहते, परन्तु जिस जातिकी आप भावना करेंगे, उसकी सिद्धि अवश्य होती है। यदि शरीर अच्छा है, शरीर ही मिलता रहो, ऐसी भावना बनी रहे, तो शरीरोंके टोटे नहीं, मिलते ही रहेंगे, अर्थात् मरे और नया शरीर मिला, इस प्रकारका ताता लगा ही रहेगा। यदि ऐसी भावना करें, कि मै शरीर-रहित हू, ज्ञानमात्र हू, सबसे भिन्न हू, निर्विकार हू, तो इस

भावनाके फलस्वरूप चाहे एकाध भवया देरी लगे, परन्तु ऐसा होकरके ही रहेगा। तब बताओ—जैसी भावना की, तैसा ही इसे सिद्धि हुई या नहीं ? इससे अपने फलाफलके लिए अपनीही जिम्मेदारी समझें, अपनी दशाकेलिए हम स्वय जिम्मेदार हैं।

देखो भया, मागनेवाले बहुतसे लोग कहा करते हैं कि भगवती तुम्हारी फतेह करे। क्या जैसे पडितकी पडितानी, सेठकी सेठानी, बाबूकी बाबयानी होती है, वैसे ही क्या भगवान्‌की भी कोई भगवती स्त्री है ? नहीं है। तब क्या उनका यह कहना झूठ है ? हा, उनकी दृष्टिसे तो झूठ है, परन्तु तत्त्वदृष्टि लगाओ तो झूठ नहीं है। भगवतीका अर्थ है–भगवत अभिन्ना इय परिणति –भगवती अर्थात् भगवानकी निज सहज अभिन्न परिणति ही भगवती है। सो यह भगवती फतेह ही करती है। शुद्ध ज्ञाता-द्रष्टा रहनेमें अनाकुल सुखरूप विजय ही विजय है। विजय स्वके तन्त्र है।

सब कार्य अपनी अपनी द्रव्यकी परिणतिसे ही होते हैं। आप कहोगे कि वाह, इसमें तो ईश्वरको भी उडा दिया, परन्तु भाई, वह द्रव्य क्या है, वह म क्या हू, जिसके परिणमन पर्याय कहलाते हैं उसे जो समझें, समझो उसने ही ईश्वरकी असली भक्ति की।

ईश्वर तो हमारा आदर्श है, उसके स्वरूपके लक्ष्यरूप निजद्रव्य दृष्टिसे पर्यायमें निर्मलता आती है। उस ज्ञानीको पूर्णनिश्चय है अपने स्वभावको देखकर उसे पूर्ण निर्णय हुआ कि जो सिद्धमें है, वह मुझमें है और जो मुझमें नहीं वह सिद्धमें नहीं। द्रव्य और गुणोंकी कैसी अपूर्व संधि है ? सचमुचमें ज्ञानीके ही अनन्त चतुष्टयमय प्रभुकी भक्ति होती है।

सर्वज्ञदेवका तो हमें यह उपदेश है कि हे मुमुक्षो, तुम मुझमें भी अनुराग मत करो। यह अनुराग भी चन्दनबनमें लगी हुई अग्निके समान स्वर्गसुखके क्लेश-रूप दाहको ही पैदा करेगा। तुम्हारा शुद्धस्वरूप ज्ञान-दर्शनकी विशुद्ध परिणति है आदि निष्पक्ष उपदेश है। इस उपदेशको सुनकर सरागपर्यायमें रहनेवाला भक्त क्या उनकी भक्ति छोड देता है ? नहीं, उल्टी उसकी तो भक्ति और बढ जाती है। हां, श्रद्धा अवश्य सूक्ष्म से सूक्ष्म भी विकारोंसे रहित, भेद कल्पनासे रहित, शुद्धतत्त्वकी है और वही लक्ष्यमें रहता है।

सम्यग्दृष्टिकी लीला विचित्र है, देखो—जिस कल्पनासे सम्यग्दृष्टिको अरहंत और सिद्धस्वरूप मिल गया, वह कल्पना भूखी रह-रह कर स्वयं मर जाती है। कल्पनाकी खुराक कल्पनाका राग है। ज्ञानीका

जो शुभोपयोग है, उसे रागकी खुराक नहीं मिलती। रागको यदि रागकी खुराक नहीं मिले, तो वह खत्म हो जायगा। भक्तको भक्ति भी उसे उच्च पद प्राप्त करनेमें बाधक है। भक्त इस बातको जानता हुआ भी भक्ति करता है, उससे बाज नहीं आता। इसे शास्त्रोंमें उसका प्रशस्त राग ही माना है, और राग तो चाहे प्रशस्त हो, या अप्रशस्त, सभीको हेय बताया गया है। प्रश्न—जब रागको हेय बताया गया है, तो सम्यग्दृष्टि शुभोपयोगको करता ही क्यों है? उत्तर—सम्यग्दृष्टि शुभोपयोगको करता नहीं है, वह उसके होता है, इसके लिये वह क्या करे? पर वह अन्तरंग में उसे उपादेय नहीं मानता, इसलिये उसे पकडता नहीं है। सम्यग्दृष्टि श्रद्धासे पूर्ण अकर्ता है।

उपसंहार—जीवोंके परिणाम तीन प्रकारके बताये गये हैं—अशुभ, शुभ और शुद्ध। इनमें मिथ्यादृष्टिके शुभ और अशुभ परिणाम कर्मबन्धके ही कारण होते हैं। सम्यग्दृष्टि अशुभका तो त्याग करता ही है, पर शुभको भी उपादेय नहीं मानता, अतः उसका शुभोपयोग विशेषतया कर्मबन्धका कारण नहीं होता, प्रत्युत शुद्धोपयोगका पूर्व कारण होता है। शुद्धोपयोग साक्षात् वीतरागपरिणति है, वही कर्मोंका विनाश करताहै

और केवलज्ञानको उत्पन्न करता है। ज्ञानीकी दृष्टि सदा शुद्धोपयोग प्राप्त करनेपर रहती है परन्तु श्रद्धा का लक्ष्य शुद्धपर्याय भी न रहकर द्रव्य व अर्थ रहता है। हमें भी सदा यही लक्ष्य रखना चाहिए, और जब तक शुद्धोपयोग दशा प्रगट न हो, तब तक उदासीन भावसे शुभ त्रियाए होते रहना चाहिये। कहीं ऐसा न हो, कि हम अशुभके समान शुभक्रियाओंको भी छोड बठें और शुद्ध तो हमसे छूटा हुआ ही है। ऐसी दशामें हम कहींके न रहेगे। यह व्यवहारकी वात है।

ये अशुभादि तीन परिणाम आत्माके ही ह, पर इनमें जो सामा य परिणमन है, वह आत्मस्वरूप है। आत्मामें जो विभावगुण है, वही क्रोधादिरूप परिणमता है। प्रश्न—क्या रागादि भी आत्माके स्वभावसे परिणमता है? उत्तर—निमित्तकी उपस्थितिमें अशुद्ध आत्मा अपने विभावस्वभावकी परिणतिसे रागरूप परिणमता है। अथ परिणाम वस्तुस्वभावत्वेन निश्चिनोति——अव परिणाम वस्तुका स्वभाव है, इस वातका निश्चय करते ह—

णत्थि विणा परिणाम अत्थो अत्य विणेह परिणामो।
दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तणिव्वत्तो ॥ १० ॥

अथ—परिणामके विना अथ नहीं, इसका अभिप्राय

यह है कि पर्यायके बिना द्रव्यका अस्तित्व नहीं । यदि कोई कहे कि ऐसा मनुष्य लाओ जो न बालक हो, न जवान हो और न बूढा हो, तो बताओ किसी अवस्था विशेषके बिना केवल मनुष्य कसे लाया जा सकता है, जब भी और जहाँ कहीं भी मनुष्य मिलेगा, वह किसी न किसी बाल वृद्धादि अवस्थामे युक्त ही मिलेगा । इसी प्रकार कोई भी पदार्थ पर्यायशून्य नहीं मिल सकता । जब भी और जहा कहीं भी पदाथ मिलेगा, वह पर्याय सयुक्त ही मिलेगा । जिसकी कोई पर्याय उपलब्ध नह , उसकी सत्ता क्या ? बच्चे अवसर खेल खेलमें किसी बालकको बीमार मानकर उसके चिकित्सक बन जाते हैं और उसके अच्छा होनेकेलिए दवा बतलाने लगते ह कि इसे आकाशकी छाल, धुआकी कोपल और असरबेलकी जड लेकर गधेके सींगसे पीस कर पिलादो, जल्दी अच्छा हो जायगा । पर जब उक्त कोई चीज अपना अस्तित्व ही नहीं रखती, तो उनका समुदाय कैसा ?

द्रव्यके बिना पर्याय नहीं, पर्यायके बिना द्रव्य नहीं । जो वस्तु जिस क्षण जिस रूपसे रहेगी, उसीका नाम पर्याय है । पर्याय प्रतिक्षण नवीन-नवीन उत्पन्न होती रहती है, पर वह प्रतिक्षणका परिणमन इतना

सूक्ष्म होता है कि हम उसे जान नहीं सकते । कुछ कालके बाद ही हमें उसका ज्ञान होता है । कोई बालक एक वर्ष पूर्व ३॥ फुटका था और उसका वजन १ मन था । आज वर्षान्तरके उपरान्त वह ४ फुट का होगया और वजन भी १ मन ५ सेर होगया, तो यह परिवर्तन एक साथ एक दिनमें ही नहीं होगया । वह बराबर गतवर्षसे ही प्रतिक्षण बढता हुआ चला आरहा है, पर प्रतिक्षणका परिवर्तन इतना सूक्ष्म था, कि हमें उसका भान नहीं होता था । आज वर्षान्तरमें वह स्थूलरूपमें सामने आया, तब हमें उसका ज्ञान हो सका।

वस्तुका परिणमन तो अवश्यम्भावी है। कहींपर उस परिणमनके बाह्य निमित्त दिखाई देतेहैं और कहींपर नहीं। एक लडका दूर खडा हुआ किसी दूसरे बालकको अपनी मुखाकृति बिगाडकर चिढारहाहै और दूसरा चिढ रहा है। बताओ, वह किसकी परिणतिसे चिढ रहा है ? चिढ तो उसमें निज परिणति से है, परन्तु निमित्त वह चिढानेवाला बालक होरहा है । यहांपर बाह्य निमित्त दिखाई देरहा है । पर कहीं बाह्य निमित्त नहीं होनेपर भी वस्तुका परिणमन बराबर होता रहता है । एक आम हरासे पीला हो

गया। यहापर जाहिरमें कोई बाह्य निमित्त नहीं है, फिर भी आमके रूपमें परिवतन तो हुआ ही है। मुख की उपस्थितिमें दपणमें जो रूप बनता है, वह प्रतिबिम्ब कहलाता है। यहा जो दपणमें परिणमन हुआ, वह दपणका ही है, हाँ मुख उसमें निमित्त कारण अवश्य हुआ। इसी प्रकार जीवमें जो क्रोधादिरूप परिणमन होता है, उसमें कर्मका उदय निमित्त पडा करता है। पर सिद्धोंमें जो परिणमन प्रतिक्षण हो रहा है, उसमें बाह्य निमित्त नहीं है।

प्रश्न—"हम जीवद्रव्य है, हमारा परिणमन हममें हमारे ही निमित्तसे होरहा है। दूसरे किसीके निमित्तसे मेरे भीतर परिणमन नहीं होता" ऐसा जाननेसे हमें क्या लाभ हुआ? उत्तर—यह लाभ हुआ कि वसा जाननेसे हमारे भीतर वसी ही श्रद्धा प्रगट होती है, उससे परमें राग, द्वेष या मोह नहीं होता। दूसरेमें इष्ट-अनिष्टकी कल्पना नही जगती और इस प्रकार हम एक बडी आकुलतासे मुक्ति पा जाते हैं।

वस्तु विज्ञानका फल राग, द्वेष, मोह, लिप्सा आदिको दूर करना है। हमें कर्मके क्षमोपशमसे जो कुछ भी ज्ञान मिला है उसका उपयोग हमें परसे ममत्व हटानेमें ही करना चाहिये। जो दुनियाँदारीकी

बातोमें ही अपने ज्ञानका उपयोग करते ह–वे मानो हाथी पाकरके उसपर ईंधन ढोरहे ह, अथवा राखके लिये च दनको जलारहे है, अथवा अमृत पाकरके उससे पैर धोरहे ह, अथवा चि तामणि रत्नको कौआ उडानेकेलिये फॅकरहे हैं। कुछ लोग इतने अधिक कजूस देखे जाते ह कि केला खाकरके उसके छिलके को भी चाट जाते हैं। पर हमें उन जैसी कजूसी ज्ञानके पक्षमे लगाना चाहिये। हमें जितना भी ज्ञान प्राप्त है, उसे निर तर आत्म-हितमें, स्वकल्याणमें ही व्यय करना चाहियें। सर्व ज्ञेयाकार वहा स्वय प्रकट होगे।

प्रश्न–यदि ऐसा है, तो फिर आपको भी आपका ज्ञान अपने ही कल्याणमें लगाना चाहिए। हमारे लिए उपदेशादि क्यो देते ह ? उत्तर––आपका कहना ठीक है, हमें अपने, ज्ञानका उपयोग स्वकल्याणमें ही करना चाहिए। फिरभी हमजो उपदेशादि देते ह, वह अपने ज्ञानकी रक्षाके लिए ही देते हैं। ज्ञानकी ऐसी विलक्षण बात है कि ज्यों ज्यो इसे हम खर्च करते है, त्यो त्यों यह वढता है और जब हम इसका खर्च ब द करदेते हे, अर्थात दूसरोको नहीं देते है, तब इसकी वृद्धि रुक जाती है और ज्ञानको जग लगना शुरू हो

जाता है। कहा भी है—

सरस्वतिके भडारकी, बडी अपूरव बात।
खर्चतें यह बढत है, बिन खर्चे घट जात॥

लोग ज्ञान पाकरके दूसरोंके साथ शास्त्रार्थ करते हैं, वाद विवाद करते है और दूसरोंको नीचा दिखाने का प्रयत्न करते हैं। पर यह ज्ञानका, विद्या पानेका दुरुपयोग है। इसी प्रकार धन पाकरके लोग मदान्ध होजाते हैं उन्हे फिर दूसरेके सुख-दुखका कुछ खयाल नहीं रहता। रात दिन विषयोंके सेवनमें ही उलझे रहते हैं। उनकी यह दशा यहातक बढजाती है कि यदि कोई सुगुरु उनके भलेकी बात कहे, तो उन्हे वह विषसी लगती है। किसी आचार्यने उनकी यह दशा देखकर कहा है—

न शृण्वन्ति न बुध्यन्ति न प्रयान्ति च सत्पथम्।
प्रयान्तोऽपि न कार्यन्ति धनान्धा इति चिन्त्यताम्॥

अर्थात् धनके मदसे अन्धेहुए पुरुष प्रथम तो अपने कल्याणकी बात सुनते ही नहीं है। यदि लोक-लाजवश सुनभी लेवें, तो उसे समझते नहीं हैं। यदि समझ भी लें, तो उस सुमार्गपर चलते नहीं हैं। यदि चार जनोके कहने-सुननेसे चलें भी, तो कार्यके अन्त तक नहीं पहुचते, बीचमें ही अटक जाते हैं,

धनाधीको यह दशा विचारणीय है । इसी प्रकार लोग शक्ति बल को पाकर उसका उपयोग दूसरोंको पीडा पहुचानेमें करते ह । वे शिकार खेलकर, गरीबोंको सताकर और निहत्थोंपर वार करके अपनेको शक्तिशाली होनेका गौरव अनुभव करते ह । पर समझदारोंकी बातें इनसे विपरीत हो हुआ करती है । किसीने कितना सुदर कहा है—

विद्या विवादाय धन मदाय, शक्ति परेषा परिपीडनाय । खलस्य साधोर्विपरीतमेतद, ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय ॥१॥ अर्थात् यदि दुजन मनुष्यको विद्या मिलती है, तो वह दूसरोसे विवाद करता है, धन मिलता है, तो वह गर्व करता है और शक्ति मिलती है तो वह दूसरों को पीडा देता है । पर जो सज्जन होते है, साधु होते ह, उनकी विद्या दूसरोके ज्ञान बढ़ानेके काम आती है, उनका धन दानके काम आता है और उनकी शक्ति दूसरोकी रक्षाके काम आती है ।

कोईभी वस्तु परिणमनके विना नहीं रहती, द्रव्य, गुण, पर्यायमें रहनेसे ही उसका अस्तित्व है । वस्तु पर्यायके बिना सत्ताको प्राप्त नहीं हो सकता । मनुष्यपर्यायमें रहनेपर जो हालतें उस पर्यायके स्वभाव से ह, यदि उन्हे न माना जाय, तो मनुष्यत्व क्या

रहेगा ? यदि किसीसे कहाजाय कि मनुष्यको देखो, पर उसके बालपन, जवानी और वृद्धापनको मत देखो, तो बताओ—क्या देखा जासकता है ? हां, उन सब पर्यायोंमें अन्वयरूपसे रहनेवाला जो कुछ है, वह मनुष्य ज्ञानकेद्वारा जाना जासकता है । वस्तु एक है, वह कोई न कोई हालतमें रहती ही है। जो हालत है, पर्याय है और जो प्रत्येक हालतमें अन्तर एक स्वरूप है, वही द्रव्य है । यह हालत द्रव्यसे पृथक नहीं है। परन्तु अवस्था क्षणभरको रहती है और द्रव्य अनेक अवस्थाओंको पार करताहुआ त्रिकाल रहता है, इस लिए पर्यायसे द्रव्यका पृथक स्वरूप हुआ । वर्तमानमें तो द्रव्य उस पर्यायमय है । वस्तुकी उपलब्धि परिणमनसे पृथक् ज्ञानगम्य ता है, परन्तु वस्तुमें पृथक् नहीं मिलेगी, क्योंकि वस्तु सामान्य विशेषात्मक ही होता है। जब हम ज्ञाननयकेद्वारा उस वस्तुके सामान्य भावका बोध कररहे ह, तब हमारे ज्ञानमें सामान्य भाव तो पृथक् स्वरूपसे ज्ञात हुआ, फिरभी ऐसा जाननेवाला मैं भी सामान्य विशेषात्मकरहा । तथा जिस वस्तुका वह अंश ज्ञात हुआ वह भी सामान्य विशेषात्मक है।

अनादिकालसे इस जीवने पर्यायमात्रको तो

मानता है, उसी प्रकार अज्ञानी जीव बाहरी पदार्थोके जानने देखनेमें ही अपनी ज्ञानशक्तिको खोकर अपनेको ज्ञानी और विद्वान् मानता है। जो ज्ञान आत्मज्ञान पैदा न करे, वह अज्ञान या कुज्ञान ही है। इसलिए हमें बाह्यपदार्थोंकी ओरसे उपयोग हटाकर उन्हीं तत्त्वो को जाननेका प्रयत्न करना चाहिए जो कि आत्माके लिए हितकारी हो। उन्हीं लोगोकी सगति करना चाहिए, जिनसे हमारे ज्ञान, ध्यान और चारित्रकी वृद्धिमें सहायता मिले। उन लोगोकी सगति कदाचित् भी नहीं करना चाहिए, जिनसे हमारा चारित्र बिगडे, हमारे विचार बुरे हो और सयममें बाधा आवे। हमें अपने दिन-रातके २४ घटोका हिसाब रखना चाहिए कि हमारा कितना समय भले कार्योंमें लगता है और कितना बुरे कार्योंमें लगता है, या बेकार जाता है। मनुष्यजीवन अनमोल है, इसकी एक एक घडी रुपया व्यय करनेपर भी नही मिल सकती है। आज हमें इसके बहुमूल्यपनेका ज्ञान नहीं होता परन्तु जब हम दुर्गतियोंमें पहुचते ह यदि कुछ विवेक जगे तब वहा इसकी कीमतका पता लगता है। जरा बल-गाडीमें जुते और बोझा ढोनेवाले, इन बैलोकी ओर तो देखो, जो बेचारे आसू बहा बहाकर गाडीको

खींच रहे ह और मानो अव्यक्त रूपसे हाकनेवालो और देखनेवालोंसे कह्ते हैं, कि हे मनुष्यो, हमने उस जन्ममें मायाचार किया, भली बात कहनेवालोसे लडनेकेलिए तयार रहे और लेकर किसीका देना नहीं समझा, उसका फल आज बल बनकर भोगरहे ह। तुम लोगोने यह मानवदेह पाया है, तो हमारे समान व्यर्थ मत खोदेना, अन्यथा हम जैसे बनकर दिन रात कष्टसेवनमें ही समय बिताना पडेगा, दिनभर कठिन परिश्रम करनेपर भी वक्तपर घास-पानी भी नसीब नहीं हागा। ये पूछ हिलाकर पीछे-पीछे भागनेवाला कुत्ताभी मानो हमसे कह रहा है कि हे मानव देहधारी, तू मायाचारी करके किसीकी खुशामद मत करते फिरना। यदि दूसरेकी खुशामद करते फिरे और अपने भाई बन्धुओंको काटनेकेलिए दौडते फिरे, तो मेरे समान तुम्हेभी कुत्तेका देह धारण करते और इधर-उधर पूछ हिलाते फिरना पडेगा। इस प्रकार जिस किसी भी देहधारीकी ओर हम देखें, वह अपनी मूकभाषामें कोई सकेत करके सावधान करही रहा है।

जो पर्यायका आश्रयभूत है, वही पदार्थ है, तत्त्व है, द्रव्य है। यदि पर्यायका कोई आश्रय नहीं माना

स्वतन्त्र द्रव्य हू और मेरी गुण पर्याय भी स्वतत्र है। चर्चा धमदृष्टिकेलिये होती है सिद्धान्तमें याह्य द्रव्यकी भी चर्चायें है जैसे–महामत्स्य इतना लम्वा चौटा है, चौइन्द्री भौंरा एक योजनका होताहै, इत्यादि वतावो इस चर्चासे क्या लाभ है ? यही कि हमारी दृष्टि उन विकारी परिणामोपर जाये कि जिनके कारण उन पर्यायोमें उत्पन्न होना पडता हे परन्तु जावे उन परिणामोंके निषेधका लक्ष्य रहते हुए त्रिलोक और त्रिकालकी चर्चाका भी यही उद्देश्य है कि हमारी दृष्टि उस ओर जाय, जिसके कारण हमें सर्वत्र परिभ्रमण करना पडताहै। कहनेका सार यही है कि तत्त्वको स्वतन्त्र समभकर स्वरूपमें लीन रहो। इस गाथाकी उत्तर पक्ति बहुत मननीय है "दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तणिव्वत्तो" जो द्रव्यगुण पर्यायमें स्थित है द्रव्यगुणपर्यायसूचक उत्पादव्ययध्रौव्यमय अस्तित्त्व करके रचाहुआ व रचरहाहै यह अथ अनुभवनीय होताहै। यहा चचनीय पद चार हैं १ पर्याय २ गुण, ३ द्रव्य, ४ अथ। पर्याय तो प्रतिक्षण वतनारूप है विनाशीक है एक वस्तुमें अनेक सहभावी परिणमन पाये जातेहै उनको शक्तियोंका नाम गुण है ये गुण ध्रुव होतेहैं त्रैकालिक सव अवस्थायोंमें एकरूप गुणरूप रहतेह इसीसे यह

सामान्य कहलातेहैं, इन सबगुणोका अभेद एक पिण्ड जो सामान्य रूप रहता है वह द्रव्य है इसमें पर्यायें अन्तर्लीन है अतः गुणपर्ययवद्द्रव्य भी इसका लक्षण है। द्रव्यदृष्टि करतेहुए सामान्य अभेदरूप दृष्टि इसी हेतु होजातीहै अब अर्थ क्या है ? द्रव्य गुण पर्यायमें व्यवस्थित परन्तु किसी एक दृष्टिसे रहित समग्र अनुभवनीय जो वस्तु है वह अर्थ है यही परम भूतार्थ है। इसके अतिरिक्त जो भी दृष्टि है वह सब अंश है। यहा अर्थके समक्ष द्रव्य विशेष है, द्रव्यके समक्ष गुण विशेष है, गुणके समक्ष पर्याय विशेष है। अर्थ कभी विशेषरूप नहीं बना, अर्थकी ही ये विशेषता है। देखो भया ! द्रव्य तो अभेदसामान्य है वह भी अनुभवके समक्ष विशेष है आखिर अभेदरूपसे तो भेद किया गया। यहा वस्तुका स्वरूप चलरहाहै। प्रत्येक वस्तुकी पर्यायें प्रतिक्षण बदलती रहतीहैं और नवीन उत्पन्न होती रहतीहै। उन प्रतिसमयभावी पर्यायोमें जो अन्वयरूपसे चलता रहताहै, उसे ध्रौव्य कहते है। जो नवीन पर्याय पैदा होती है, उसे उत्पाद कहतेहैं और जो पूर्व पर्याय नष्ट होतीहै उसे व्यय कहतेह। इस प्रकार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त वस्तु है। यही सूत्रकार श्री उमास्वामीने कहाहै–८८

स्वभाव वस्तुओंको झलकाना है उसे कहीं भी रखो, वस्तुका प्रतिबिम्ब उसमें पड़ेगा ही। यदि उसे सन्दूकमें बन्द करके भी रखेंगे, तोभी उसमें सन्दूकका ही प्रतिबिम्ब पड़ेगा। यदि उसे कपड़ेसे लपेटकर रखेंगे। तो उसमें उसका ही प्रतिबिम्ब पड़ेगा। बिना प्रतिबिम्ब पड़े दर्पण रह नहीं सकता। इसी प्रकार वस्तु का स्वभाव भी परिणमन शील है। जहां कहीं भी रहेगा–निरन्तर परिणमन करता ही रहेगा।

रुडकीमें गंगा नदीका पुल है इसके ऊपरसे नहर निकालीगई है। उस पुलमें ऊपरसे पानी झरता है। इन्जीनीयरोंका कहना है कि जिस दिन उसका झरना बन्द होजायगा, उसी दिन वह टूट जायगा। यह तो एक लौकिक दृष्टान्त है, पर यही बात वस्तुमें लागू होती है कि जिस क्षण वस्तुका परिणमन बन्द हो जायगा। उसी वक्त उसका अस्तित्व समाप्त हो जायगा।

बनना, बिगड़ना और बनी रहना ही वस्तुका वस्तुत्व है। एकके बिना दूसरेका अस्तित्व कैसा? कल्पना करो—यदि कोई बने नहीं, तो बिगड़े क्या? यदि बिगड़े नहीं, तो बने क्या और यदि बने बिगड़े नहीं, तो बना रहे क्या? यदि कोई बना नहीं रहे, तो बने-बिगड़े क्या? जो धनी है, तो वह सदा धनी

हो रहेगा, ऐसा नहीं होसकता है । परिवर्तन अवश्य-भावी है । हम भी बनते, बिगडते और बने रहतेह । इस पर्यायका भी व्यय होगा, इसकी बात तो हम बहुत करतेहैं और किसी के मरने पर स्मशानमें वराग्य भी सबको बहुत पैदा होता है। ससार क्षणभगुर दिखने लगता है और ऐसा लगने लगताहै मानो हमअभी ससार का परित्याग कर देंगे । पर बताओ भीतर दिलमें चोट कितनोके लगतीहै ? मृतकको जलाकरके नहानेके पूवतक ही ये वैराग्यकी बातें होती रहतीह । पर ज्यो ही नदी, तालाब वा कु एपर स्नानकिया कि उस स्नान के साथ ही वह स्मशानवैराग्य भी धुल जाताहै और नहानेके बाद वह चर्चा ही ब-द होजाती है । यदि किसी का मरण सुनकर गहरी चोट लगे, धमकेलिए उत्साह जगे तो सच्चा वैराग्य कह सकते ह । पर ऐसा नहीं होता, इसकाअर्थ है कि हमें मरणका पूराभरोसा नहीं है । यदि देखा जाय, तो हमारेजीवनका क्या भरोसा है ? हमने अपने जीवनके प्रोग्राम कितने लम्बे चौडे बना रखेहै कि जो कभी पूरे नहीं होसकते । जीवन बहुत थोडा है, कितने दिन रहना है, इसका कोईभरोसा नहीं है, इस लिए हमें जीवनके प्रोग्राम भी उतने ही बनाना चाहिए, जिन्हें कि, हम आसानी से, निराकुलता

के साथ पूर्ण कर सकें। सब वस्तु ससारमें असार हैं कीर्त्तिकी भी यही दशा है। सब कीर्त्तिके इच्छुक हैं। किसी भी कार्यको करके हम चाहतेंहै कि हमारी कीर्त्ति सदा स्थायी रहे। हर एक मनुष्य अपनी कीर्तिको अनन्तकालतक बनाये रखना चाहताहै। पर क्या किसी का कीर्त्ति आजतक स्थायी रहीहै। असख्य तीथकर हो चुकेहै। पर हम उनके नामतक नहीं जानतेहै। असख्य दिग्विजयी चक्रवर्त्ति सम्राट् होगये, पर किसकी कीर्त्ति आजतक रही है, ऐसा जानकर अपने यशको त्रिकाल स्थायी बनानेका मोह छोड देना चाहिए। मौतका कोई विश्वास नहीं। कितने ही बालक तो जन्मते ही मरजाते हैं। यदि हम भी बचपनमें मरगये होते, तो आज क्या करते? हम जीवित बचगये हैं, तो समझना चाहिए कि धमसेवन करनेकेलिए ही बचगये हैं? इस लिए हमें अपना समय धमसेवनमें हीलगाना चाहिए। यदि किसीसे पूछो कि आप कितने वर्षके हैं, तो वह उत्तर देताहैकि हम ३७ वष के हैं परन्तु यहझूठ है। हम अनादिकालसे चले आरहे हैं, इसलिए उत्तर यह देना चाहिए कि हम अनन्त वर्ष के बूढे हैं और यदि किसी विशेष जिन्दगीसे मतलबहै तो देखो धर्मके बिना जिन्दगी कोई जिन्दगी नहीं। अत यह अनन्तकालका

जीवन तो व्यय होगया समझनाचाहिए। जबसे हमारे भीतर धमभाव जागृत हुआ, परसे लक्ष्य छूटा, तभीसे हमारीजिन्दगी प्रारम्भ हुई समझना चाहिए। सुखकी प्राप्ति सुखके उपायसे मिलेगी। सुखकी प्राप्ति धम से होती है, इसलिए सुखकी कामनावालोको धमका पालन करना चाहिए। हमगृहस्थीकी लम्बी-चौडी शान भले ही वनालेवें, पर उससे क्या ? सप्तम नरकका नारकी एक बार सुखी होसकता है, यदि उसके श्रद्धा जग जाय और सम्यक्त्व उत्पन्न होजाय। पर गृहस्थीमें फसे मिथ्यात्वी मनुष्यके सुखकी कल्पना नहीं की जा सकती। जिसकी तरगोमें सप्ततत्त्वका श्रद्धान है ज्ञायक भावकी श्रद्धा है ऐसा सम्यक्त्वी नारकी सुखी है, पर भोगासक्त मिथ्यात्वी मनुष्य सुखी नहीं ह। अत अशुद्धोपयोगका सबध सुखका बाधक जानकर उसे त्यागें

अथ चारित्रपरिणामसपर्कसभववतो शुद्धशुभपरिणामयोरुपादानहानाय फलमालोचयति अब चरित्र परिणामके सपर्कके सभववाले या जिनमें चारित्र परिणामका सपर्क व सभवपना है ऐसे शुद्ध और शुभ परिणामके उपादेय हेयपनाको प्रगट करनेकेलिए फलका विवेचन करतेहैं—

लोकमें ऐसा व्यवहार है कि जब किसीसे किसी

चीजका त्याग कराना हो, तो उससे फलकी चर्चा करना पडतीहै । फल सुनकरके मनुष्यके भाव स्वय हेयपदार्थ को छोडनेके होजाते हं। आज लोगोमें रात्रिभोजनका प्रचार बढरहा है, तो रात्रि भोजन करना बुरा है इसे छोडदो, ऐसा करनेसे काम नहीं चलेगा । उसे छुडाने केलिए हमें रात्रिभोजनसे होने वाली बुराइयोंको बताना पडेगा—कि देखो रात्रिमें भोजन करनेसे सैंकडो कीडे मकडोका घात होताहै । यदि जीव दिखजाय, इसलिए प्रकाश रखते ह, यदि ऐसा कहा जाय तो उसके निमित्त से और भी पतगे वगरह आकर दीपकपर औरभोजन में गिरते हे। सो खुद विचारलो यदि भूलसे ठीक तौर पर न दिखाई देनेसे जू पेटमें चला जाय तो जलोदररोग होजाताहै । यदि मकडी चली जाय, तो कोढ निकल आता है। यदि कहीं जहरीला कोई जीव जन्तु भोजनमें गिरजाय, तो खानेवालोके प्राणतक चलेजाते ह । एक वारकी बात है कि एक बरात किसी रात्रिभोजी के घर आई। बरातकेलिए खीर पकाई गई। रातमें पकते समय ऊपरसे कहीं धुवा वगैरह लगनेसे छिपकली खीरकी कढाईमें गिरपडी । बरातियोंको खीर परोसी गई और उन्होने खाई । प्रात काल कितनेही बराती सोतेके सोते रहगये अर्थात् मरे हुए पाये गये । उनके

शरीर हरे पीले होगयेथे। जाच करनेपर पताचला कि बची हुई खीरमें एक छिपकली पडीहुई है। इस प्रकार के अनेक अनय हम प्रतिदिन देखते और सुनते है इनसे बचने केलिए हमें रात्रिभोजनका त्याग करना आवश्यक है। इस ही शैलीसे विकल्प दूर हो सकताहै। यह मोक्षमार्गका प्रकरण है अत उसके बाधक राग विकल्प को दूर करनेका उपदेश है, जिसमें अशुभोपयोगका राग प्राय सबकी समभमें आताहै सो वह तो प्रसिद्ध है यहा शुभोपयोगका वर्णन शेष न्यायसे करतेहं अर्थात् इसी प्रकार कुन्द-कुन्द स्वामी भी शुभोपयोगका फल बताकर उसकी हेयताको और शुद्धोपयोगका फल बता कर उसकी उपादेयताको बतलाते ह।

जो शुद्धोपयोग पर चलेगा, उसके बीचमें शुभोपयोग होगा ही। परन्तु उसे उपादेय नहीं समभना चाहिए। चलते वक्त हमारी दृष्टि चार हाथ आगे रहतीहै, पर पैर तो दृष्टिके चार हाथ पीछे ही चलतेह। यही क्रम है अत उद्देश्य हमेशा ऊचा रखना चाहिए। खेती अन्न उत्पन्न करनेके उद्देश्यसे कीजाती है, घास फूसको उत्पन्न करनेकेलिए नहीं। यह तो स्वय ही उत्पन्न हो जाताहै। यदि कोई खेती घास-फूसके पैदा करनेकेलिए करे, तो वह समभदार नहीं कहलायगा। इसी प्रकार

शुभोपयोग रखनेकी ही दृष्टि होती तो आत्माके निर्मल स्वभावपर उपयोग रहनेरूप शुभोपयोग कैसे होता ?'

वस्तु निश्चय-व्यवहारात्मक है, वस्तुयें दोनोंमेंसे एकही रहे, ऐसा नहीं हो सकता। क्योंकि पर्याय बिना द्रव्य नहीं ठहरती और द्रव्यके बिना पर्याय नहीं ठहरती। आपने गणेशमूर्त्ति देखी होगी, वह अभेदऔर भेदका दृष्टान्त प्रतीत होतीहै। अभेद तो ऐसा है कि मनुष्यके शरीरमें हाथीका मुख फिट बैठा दिया और भेद बतानेकेलिए चूहेके वाहनकी कल्पना की गई है। जसे चूहा किसी वस्त्रादिको कुरत कुतर कर खण्डित कर देता है, यही बात निश्चय-व्यवहारमें है। इतना भेद अवश्य है कि निश्चय व्यवहारकेअभेद और भेद एकही वस्तुमें दिखाए जाते है। जसे अनन्त गुणो का अभेद पिण्ड आत्मा निश्चयनय का विषय है, और उसके गुणो का भेद, या पर्याय विकार पर्यायनयका विषयहै। इस आत्मामें तीन उपयोग होते है जो पर्याय-स्वरूप है। उसमें से अशुभोपयोग तो अत्यन्त हेय है ही, यहा शुद्धोपयोग और शुभोपयोग में से क्या ग्रहण योग्य है और क्या त्यागने योग्य है, इस प्रयोजनको बताने के लिए उनके फलोका प्रतिपादन करतेह –

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसपयोगजुदो।
पावदि [illegible]

धर्मसे परिणत आत्मा यदि शुद्धोपयोगसप्रयुक्तहोता है, वह निर्वाणके सुखको पाताहै, और यदि वह शुभोपयोग से युक्त होताहै, तो स्वर्गके सुखको पाता है, भया ! धर्मका फल तो एक ही है। जब यह आत्मा धमस्वभाव से परिणत होकर शुद्धोपयोगकी परिणतिको धारण करताहै, तब निष्प्रतिपक्ष शक्तिवाला होकर स्वेष्टसाधन में समर्थ चारित्रको धारण कर साक्षात् मोक्षको प्राप्त होताहै देखो, जो रामचन्द्र अग्नि परीक्षाके बाद ससार से विरक्त सीताको मनातेथे, उसे घर चलने और आनन्दसे रहनके लिए आग्रहकरतेथे, वे ही जब ससार से विरक्त होगये और दीक्षा लेकर साधु बन गये, तब सीताका जीव जो सोलहवें स्वर्गमें प्रतीन्द्र हुआथा, वह आताहै और उसके मोह जागृत होता है कि यदि किसी किसप्रकारी रामचन्द्रजी सयमसे डिग जाय, तो फिर हम दोनो ससारमें एकसाथकुछ काल और आनन्दसे व्यतीत करेंगे, फिर तपस्याकर साथ साथ मोक्ष जावेंगे। ऐसा सोचकर वह सीता का रूप बनाताहै और अनेक प्रकारके हाव-भाव दिखाकर सयमसे गिरानेका उपाय करता है। जब उसे इस प्रकार सफलता नहीं मिलती है, तो वह अपनी और भी माया फैलाता है, रावणको अपने केश पकडकरके खींचता हुआ दिखलाता है, स्वय

समीप बैठा आत्मध्यान कररहाहै, सेनाको आगे जानेसे रोकदेताहै और उनकी वन्दना करने पहुचताहै, चरणों में गिरताहै और उनकी स्तुति करताहै । बताओ, जिस शत्रुको कई दिनो तक युद्ध करके, सैकडो मनुष्यों का खून बहाकरके भी नहीं जीत सकतेथे, उसे एक क्षण भरमें जीतलिया । इससे पता चलताहै कि यदि हम अपने भीतरके शत्रुओं पर विजय प्राप्त करलेवें, तो बाहरी शत्रु क्षणभरमें जीते जासकतेह । कल्पित सारे दु खोकी जड पर्यायबुद्धि है । मालिकके सकेतपर कुत्ते भौंकतेह, पर्यायबुद्धिके इशारेपर सारे दु ख आकर तग करते ह । द्रव्यदृष्टिमें तो अमृततत्त्व ही है । प्रश्न–पर्यायबुद्धि किसे कहते है ? क्या पर्यायका जानना भी पर्यायबुद्धि है ? उत्तर–जो हमारा वतमानकालिक परिणमन है, हम इसी रूप ह, आगे पीछे कुछ नहीं, इस प्रकारकी बुद्धिको पर्यायबुद्धि कहतेहं । पर्यायबुद्धि के नष्ट होनेपर भी सस्कारवश जो राग शेष रहताहै पहिले उसकी ही तो करामात देखलो । भैया? जब यह धमपरिणत आत्मा शुभोपयोगरूप परिणतिसे सयुक्त होताहै, तब यह स्वकाय करनेमें असमर्थ होनेसे विकल शक्ति होकर मोक्षको नहीं प्राप्त कर पाताहै, और स्वग सुखको प्राप्त करताहै । पाचो पाडवोको देखो,

वे शत्रुञ्जयपर तपस्या कररहेथे, ध्यानमें लीन थे, तब शत्रुओंने आकर उनपर उपसर्ग करना प्रारभ किया, उन्हे लोहेके गर्म-गर्म आभूपण पहिराना प्रारभ किया। तीनो भाई तो अपने उपयोगमें अचल रहे, पर नकुल सहदेवके शुभोपयोग जगगया, वे सोचने लगे, देखो तीनो भाई कितने शान्तमूर्त्ति बने ध्यान कररहेह, और ये लोग उपसग कररहेह, कहीं ऐसा न हो, कि ये ध्यान से चलजाय और सारी तपस्यापर पानी फिरजाय। उनके देहतो जलही रहेथे, नकुल और सहदेवके शुभोपयोग होगया था, इसलिए वे ससारमें ही रहगये—सर्वार्थसिद्धि पहुचे। पर भीम, अर्जुन और युधिष्ठिर अपने आपमें स्थिर रहे, शुद्धोपयोगी ही बने रहे और उसके फलसे तत्काल मोक्षको प्राप्त किया, पाँचो पाडवोका उदाहरण इस बातका प्रत्यक्ष साक्षी है कि शुद्धोपयोगसे निर्वाण सुख मिलताहै और शुभोपयोगसे स्वर्गसुख मिलता है। परन्तु ज्ञानी कभी भी सुख पुण्य या शुभोपयोगमें हित बुद्धि नहीं करता। हमें हरकाम करते हुए अपनी दृष्टि सहज शुद्ध ज्ञान दशन स्वभाव पर रखना चाहिए। स्वभावदृष्टिरूप धर्म करते हुए भी जो अबुद्धिपूर्वक राग चलरहाहै, उसका फल है स्वर्गादि, किन्तु सवर निजरातत्त्व कल्याणही है। यहा

तो चरित्र परिणाम जहा भी सभव है, वहा भी राग रहे उसके फलका वर्णन किया जारहाहै । ऊचे से ऊचा शुभोपयोग वह है जहापर वाह्यमें पचपरमेष्ठीका आश्रय हो और भीतर अपनी ओर लक्ष्य हो । अर्थात् पूजन करते समय ऐसे भाव होना चाहिए कि वाहर हम जिन पचपरमेष्ठि भगवान् की पूजन कररहेहैं, वही स्वरूप हमारा लक्ष्यहो, हमेंउसी स्वरूपको प्राप्त करनाहै । हमारे इष्ट लक्ष्यको प्राप्त करानेकेलिए ये पचपरमेष्ठी आश्रयहै । इस प्रकार प्रत्येक छद वोलते समय, प्रत्येक पविनका उच्चारण करते हुए हमारा ध्यान वाहरसे भीतर और भीतरसे वाहरकी ओर आता जाता रहना चाहिए। जिस प्रकार साधु सदा छटे गुणस्थानसे सातवें में और सातवेंसे छटेमें आते जाते रहतेह, ऐसी क्रिया रूप परिणति पूजन करते समय हमारी रहनी चाहिए। हमने रागद्वेष रहित देवका स्वरूप वोला, तदनुसार ही हममें भीतरी श्रद्धा जगनी चाहिए कि हमारे आत्मा का भी यही स्वरूप है और हम उसे प्राप्त करने केलिये प्रयत्नशील है । पूजाका उद्देश्य तो आश्रयके आधारसे स्वरूप प्राप्त करनेका उद्यम है, स्वरूप तो अनन्याधार है । पूज्य श्री आचार्यने पहले भीतरी अशुभ परिणतिके छोडनेका उपदेश दिया है । ऊपरसे भलेही हम कितना

ही दिखावा करें, यदि भीतरसे रागद्वेषकी परिणति नहीं मिटी है, तो बाहरमें भी प्रवृत्ति तदनुसार ही होगी। दो भाई थे, आपसमें उनका भारी प्यार था, जो काम करते, एक दूसरेसे पूछे बिना नहीं करते। एक बार बडा भाई बाजार गया और वहांसे दो ककडी मोल लाया। उनमें एक छोटी थी, दूसरी बडी, बडी ककडी को उसने दाहिने हाथमें लिया और छोटीको बायें हाथमें लेलिया और घरको चला। रास्तेमें दोनों भाइयोके दोनों लडके मिल और ककडी लेनेकेलिए लपके। भाग्यसे उस बडे भाईका लडका बाये हाथकी ओर आया जिसमें कि छोटी ककडी थी, और छोटे भाईका लडका दाहिने हाथकी ओर आया, जिसमें कि बडी ककडी थी। वह अपने पुत्रको बडी ककडी देनेका मोह न रोक सका और दाहिना हाथ बाइ ओर कर और बाया हाथ दाहिनो ओर करके दोनो बच्चोको दोनो ककडिया पकडादी। छोटे भाईने बडे भाईका यह कौशल देखलिया और आकर बोला— भाई मुझे अलग करदो। बडा भाई बोला—क्या बात है, जो तुम अलग होनेकी कहरहेहो। वह बोला— मने सब कुछ देख लिया। बडे भाईने कहा, न भाई, यह न होगा, तुम मेरे आज्ञाकारी भाई हो, मैं तुम्हे उतना प्यार

करता हू कि तुम जितनी चाहो, उतनी सम्पत्ति लेलो, पर म तुम्हें न्यारा नहीं करसकता। छोटा भाई बोला—अब कुछ भी कहो, मै शामिल नहीं रहसकता, मैंने सब कुछ देख लियाहै। जब भीतरमें भेदभाव होताहै, तो उसे कितनाही छिपाया जाय, वह किसी न किसी प्रकार बाहर आ ही जाताहै। बडे भाईको चाहिए तो यह था कि छोटे भाईके बच्चेको बडी ककडी देता और अपनेको छोटी। पर वह मोहवश ऐसा न करसका। घर गृहस्थीमें रहते हुए भाइयो इन छोटी छोटीसी बातोमें पूरी सावधानी रखना चाहिए, अन्यथा जरासी गलतीसे बडे बडे घर वर्वाद होजातेह। इसी तरह रागका बढावा भी बडा अनथ कररहा है।

काल चक्रका परिणमन तो देखो—हम कितनी ही बातोमें रोज गिरते चलेजारहेह। पहले लोग अपने माता-पिता या वृद्धजनोके सामने अपने बाल बच्चोको नहीं लेतेथे या उन्हे लाडप्यार नहीं दिखलातेथे। बडोकी आन रखतेथे। यदि लडका ४० वषका भी हो जाता, तो भी अपने बुजर्गोके सामने वह अपनी सन्तानको गोदमें नही उठाताथा। पर आज लोगोने लोक-लाजको तिला जली देदीहै। भलेही हम और बातोमें उठ रहे हो, पर असलियतसे बहुत दूर जारहेहें। बात तो छोटीसी है

परतु सस्कार बुरा होजाताहै । ये बातेंतो दूरही रहो । यहा तो शुभोपयोगकी भी बालकी खाल काढी जारही है।शुभोपयोग रागनिर्मित है, उपयोग तो ज्ञानपर्याय है, शुभरागके कारण है, इसी कारण जिस समय यह आत्मा धमपरिणत होकर भी, शुद्ध तत्वमें लीन होनेकी उमग होनेपर भी शुभोपयोगकी परिणतिके साथ चल बैठताहै, तब इसकी शक्ति कर्मोंसे रोकदी जातीहै, इसलिए वह शुभोपयोग सप्रयुक्त चारित्र मोक्षरूप कार्य करनेको असमर्थ होजाताहै। उस समय यह शुभोपयोगमें ही भटक जाताहै। पर शुद्धोपयोगीकी दशा इससे विपरीत होतीहै । ज्ञानी वह भगवदभक्ति करते हुए भी उनमें अनुराग तो रखताहै, पर उसे वह रागरूप ही समझता है । शुभोपयोगके त्यागकी बात शुद्धोपयोगीके लिए ही शोभा देतीहै। पर जो स्वय तो अशुभोपयोगसे परिणत होरहाहै और शुभोपयोगके त्यागकी बात कहे, तो उसे कैसे शोभा देसकतीहै । यह बात ठीकहै, किन्तु भैया अपनेको शुद्धोपयोगके योग्यही समझो। प्रभु और तेरी जातिमें कोई अन्तर नहीं, जितनाभी विकार भाव है, सम्यक्त्वी उससे दूर होना चाहताहै । वह जानताहै कि शुभोपयोगकी दृष्टि सम्यक दृष्टि नहीं है । नकुल और सहदेवकी बात कल कही थी । उनके शुभोपयोग

हो गया और वे सर्वार्थसिद्धि पहुंचे, मोक्ष नहीं जासके। पर नकुल और सहदेवके भी शुभोपयोगमें आदर नहीं था। यदि उनके शुभोपयोगमें आदर होता, तो वे सर्वार्थसिद्धि भी नहीं जापाते। सम्यक्त्वी शुभोपयोगमें रहता है, पर उसकी श्रद्धा शुभोपयोगमें नहीं रहती। दुनियाके सारे काम करते, हुए भी उसके अंतरगमें शुद्ध लक्ष्य की निर्मलधारा अनवरत बहती ही रहतीहै।

धर्मका सीधा फल मोक्ष है, पर शुभोपयोगकी परिणतिमें वह उसे प्राप्त करानेमें असमर्थ होजाता है। उसका वह शुभोपयोग व्यवहार धर्मरूप है, इस कारण वह विरुद्ध कार्यका करने वाला बनजाताहै, और इसीलिए वह संसारका साधक होजाताहै। कहीं चारित्र विरुद्ध कार्य नहीं करता विरोधकर्ता रागभावहै जो कि अशुद्धोपयोगका साधक है। शुभोपयोगयुक्त चारित्रको अग्नितप्त घृतके समान कहा है। जैसे घीका स्वभाव तो शीतल और दाहको शमन करनेका है, पर जब वह अग्निके सम्पर्कसे उष्ण होजाताहै, तो स्पर्श करने वाले पुरुषको जलाता ही है। इसी प्रकार शुद्ध चारित्रका फल तो जन्म दाहको शान्त करना ही है, पर जब वह शुभोपयोगरूप अग्निसे संतप्त होजाताहै, तो दाहको उत्पन्न करता ही है। देवोंके यद्यपि शारीरिक

रोग दाह नहीं है, तथापि मानसिक दाह तो है ही। जब इन्द्रकी सवारी आ रही हो और किल्विषिक जातिके देवोंसे यह कहा जाताहै कि दूर हटो, एक तरफ रहो, तब उनके जो मानसिक वेदना होतीहै, वह अवर्णनीय है। जब इन्द्रकी सवारी कहीं जानेको तयार होतीहै और आभियोग्य जातिके देवोंको वाहनका रूप धारण करके आनेका आदेश दिया जाताहै, उनकी मनोदशा कैसी होती है, यह करुणाजनक चीज है। जब बाजे बजाने वाले देव बाजे बजा रहेहैं, बजानेमें तन्मय होरहेहैं, और उन्हें आज्ञा दीजातीहै, बाजे मत बजाओ, तब उन्हें राग-रंगके भंगसे तथा पराधीनतासे जो कष्ट होताहै, उसे भुक्तभोगी ही जान सकतेहैं। इस सबके कहनेका अर्थ यही है कि चारित्रके साथ जो शुभोपयोग लगजाताहै और उसमें जो उपादेय बुद्धि हो जातीहै, वही ऐसी देवदुर्गतिको देताहै। यहतो छोटे देवोंकी बात कही, बड़े देव भी होते तो वे भी झूर-झूरकर रागवश दुखी होते सुख किसीभी अशुद्धोपयोगसे उपलब्ध नहीं होता। हां अशुभोपयोगके क्लेशसे शुभोपयोगके क्लेशमें मंदताहै। जब ज्ञानी इस शुभोपयोगसे ऊंचा उठताहै, तभी वह निर्वाणका पात्र होताहै। जिसके मनमें सांसारिक वस्तुमें राग नहीं, वही ठीक

रास्तेपर हैं। जिसका मन सांसारिक सम्पदामें उलझा हुआ है वह कभी संसारसे पार नहीं होसकता। उसके पुत्र तक भी उसकी ऐसी दशाको देखकर हँसतेहैं। एक सेठजी की बात है, वे अत्यन्त वृद्ध होगये, पर तिजोडी की चाबी अपने किसी लडकेको नहीं दी। उन्हें भय था कि यदि किसीको चाबी दी तो वह सारा धन हडप जायगा, फिर मुझे मारा-मारा फिरना पडेगा। जब सेठजी सख्त बीमार पडे और परलोकको चलनेका ही अवसर आगया, तो लडकोंको बुलाकर बोले, 'यह चाबी लो' लडकोंने उत्तर दिया–दादाजी, चाबी साथ लेते जाइये, हमें चाबीकी कोई जरूरत नहीं। तब उस वृद्धको अपनी भूलपर खेद हुआ।

हमें अपनी चर्या अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको देखकर बनाना चाहिए। अपनी दिनचर्या बनानेकेलिए हमें औरोंके वोट (मत) लेनेकी जरूरत नहीं। यदि दूसरोंसे वोट लेकर दिनचर्या बनायेंगे, तो विपरीत मार्ग पर चले जावेंगे। क्योंकि संसारमें सन्मार्गपर चलनेवाले कम हैं और कुमार्गपर चलनेवाले अधिक हैं। इसलिए स्वकल्याणके विषयमें हमें अपनी ही चिन्ता करना चाहिए। हमारे भीतर यह भाव निरन्तर प्रवाहित रहना चाहिए कि हम अकेले हैं, अकेले ही हमें

अपने भले बुरेका फल भोगना पडेगा, इसलिए हमें पर वस्तुपर दृष्टी न रखकर स्वपर ही दृष्टि रखना चाहिए। हमें पहले अपनी ही दया करना चाहिए। जिसन स्वदया नहीं की, वह परदया नहीं करसकता। प्रश्न— स्वदया क्या है ? उत्तर— आत्मामें अहिंसा भावका जागना, स्वमें श्रद्धा होना, स्वका जानना और स्वरूपमें रमना ही स्वदया है। इसके विपरीत सब कषायें स्वहिंसा है। जिनकी परनारीमें रुचिया आसक्ति होती है, उन्हेंही पर स्त्रियोंके हाव भाव अच्छे लगतेहै, उन्हेंही उनकी कथा सुहातीहै। जुआरीको जुआरियोंकी, सटोरियोंको सटोरियोंकी और शिकारियोंको शिकारियोंकी बात रुचिकर होतीहै। पर जिनके भीतर विवेक जागृत होचुका है, आत्मश्रद्धा प्रगट होचुकीहै उसे वीतरागियोंकी ही चर्चा सुहायगी। उसे सुकुमाल, धन्य-कुमारकी चर्चा प्रिय लगेगी। आत्मतत्त्वके पानेका उपाय भी सुहावेगा। प्रश्न–शुद्ध आत्मतत्त्वके पानेका क्या उपाय है ? उत्तर-अन्तरगमें अतरग चरणानुयोग की रुचिका होना ही शुद्ध आत्मतत्त्वके पानेका उपाय है।

जो शुद्धात्माको कथा सुनताहै, उसे करणानुयोगकी बातें भली लगने लगतीहैं, शुद्धात्मासे सम्बन्ध रखनेवाली

करते हुए निज आत्मशुद्धिका ही भावहै। यहा शरीरको ससारकी मूर्त्ति कहाहै, इसका भाव यहहै कि कोई ससार को जाने, तो किस जरियेसे और कहाँ जाने, तो उसका सकेतहै शरीर। मूर्त्तिसे मूर्त्तिगत भाव पहिचाना जाताहै। सरस्वतीका भाव जाननेकेलिए लोग जिनवाणीके अक्षर रूप मूर्त्तिको देखते। अक्षरके आकारके अनुसार भाव नहीं मापा जाता किन्तु अक्षरके वाच्यको हृदयगम किया जाताहै। इसी तरह मूर्त्तिके दर्शनकर यदि मूर्त्तिमेंही अटके तो अटक गया। उचित यहहै कि मूर्त्तिके आधार पर मूर्त्तिमानका ध्यान करो यह शरीर भवकी मूर्त्तिहै, इससे अतरग भाव जो रागद्वेष है, उसे निकालो कहीं ऐसा न हो कि हम इसे खिलाते पिलाते ही लक्ष्यसे च्युत होजावें। यह शरीर विनश्वर है, जडहै, ज्ञान सुखसे रहितहै, इसके मोहमें कोई हित नहीं। और देखो भैया, इस भवमूर्त्तिसे अपना या दूसरेका कितना ही प्रेम हो, मृत्यु होते ही इन्हीं प्रेमियोके द्वारा शीघ्र जलाकर भस्म करदिया जायगा। इसी तरह जैसे कि हमने बीसोको जलादिया है। अत इसके पडौसी बनकर एक महूर्त्त भी तो इस शरीरसे पृथक् शोभायमान ज्ञानानन्दमूर्त्तिरूप निज आत्मतत्त्वका अनुभव करो। जिससे कि आत्मा और शरीरके एकत्वका मोह छूट

जाय।

बच्चोको जब तक नया खिलौना नहीं मिलेगा, तब तक वे पुरानें खिलौनेको नहीं छोडेंगे। इसी प्रकार हमेंभी बाह्य चीजोंसे ममत्व छुडानेकेलिए अतरगमें विराजमान ज्ञायक भावको पकडना पडेगा, तभी बाहरी चीजोंसे ममत्व छूटेगा। तत्त्वदृष्टिसे जायमान वराग्य दृढ होताहै। कितने ही लोग कहतेह, कि हमने अमुक व्रत, तप धारण करलिया, अब तो निभाना ही पडेगा, उनका ऐसा कहनाही उस व्रत, तपके विषयमें अनादर का द्योतक है। यदि अन्तरगसे प्रीति हो तो उस प्रकार के वचन निकलेही क्यो ? जब मनमें विकार होताहै, तो वह किसी न किसी रूपमें बाहर निकल पडताहै। एक श्रावक श्राविका कहीं देवदशनको जारहेथे। आगे आगे श्रावक चलरहेथे और पीछे पीछे श्राविका। माग में एक जगह पडी हुई कुछ अशर्फिया दिखी, श्रावक धूल उठाकर उनपर डालने लगा कि कहीं मेरी स्त्रीका मन इन्हे देखकर चल विचल न होजाय। पीछेसे स्त्री आपहुची और बोली यह क्या कररहेहो ? वह बोला, यहा अशर्फिया पडी थीं, मने सोचा कही तुम्हारा मन इन्हे देखकर चल विचल न होजाय, इससे इनपर धूल डालरहाहू। स्त्री बोली तुमभी अच्छे निकले जो धूलपर

पूजन करतेहुये भी वीतरागता बढानेवाली सामग्री रखेंगे, वीतरागतापोषक वेश-भूषा रखेंगे और वचन भी वीतरागतता पूर्ण ही निकलेंगे । इसी प्रकार सामायिक, स्वाध्याय आदि जो भी उनकी क्रिया होगी, सब जगह उनके कार्यमें वीतरागता टपकेगी । तत्त्वद्रष्टाके संवर निर्जरा होनेमें अंतर नहीं पडता । 'तत्त्वकौतूहली बनो' इसका भाव यही है कि हम जिस किसी भी कार्यको करें, पर दृष्टि हमारी हमारे लक्ष्यपर ही रहनाचाहिए । भैया ! एक जैनीका बच्चा जो जिन देवके सिवाय और किसीको नमस्कार नहीं करताथा, एक बार अपने अजनगुरुके साथ लक्ष्मीनारायणके मन्दिर गया । गुरुने लक्ष्मीनारायणको नमस्कार किया तो इसने भी करलिया । गुरु आश्चर्य चकित होकर बोले–भाई तुम तो जैन हो, यहा क्या देखकर तुमने नमस्कार किया? बच्चा बोला– देखो, हम अपने वीतराग भगवानको तो इसलिए नमस्कार करतेहैं, कि उनकी मूर्ति हमें यह संदेश देतीहै कि यदि संसारसे पार होना चाहतेहो, तो हम सरीखे एकाकी बैठकर आत्मध्यान करो । और लक्ष्मीनारायणकी मूर्त्तिने हमें यह संदेश दिया कि यदि तुम संसारमें भटकना चाहतेहो, तो स्त्रीको हमारे समान सदा साथमें रखाकरो और उससे प्रेम करो ।

उनके इस मूक सदेश को मने सुन लिया और इसलिए गुरु मानकर मने भी नमस्कार करलिया।

स्त्री को देखकर अज्ञानीके भाव रागमय होतेहैं, पर ज्ञानी सर्वत्र तत्त्वकी बात सोचेगा। एक मुल्ला जी कहीं व्याख्यान देतेहुये बलिका समर्थन कररहे थे और हिंसामें धर्म बतलारहेथे। एक जैन श्रोता भी वहां खडे थे, सुनकर बोले-वाह क्या अच्छा व्याख्यान दिया। तब लोगोंने पूछा—भाई उसने तो हिंसाका पोषण कियाहै और तुम उसके व्याख्यानको अच्छा बतारहे हो! वह बोला—भाई मिथ्यात्वके तीव्र उदयमें ऐसा ही तो उपदेश होताहै कि हिंसामें धर्म है। मिथ्यात्वका पर्दा हटाओ, आंखोसे नीला चश्मा उतारो, सब वस्तुओं का यथार्थस्वरूप दृष्टिगोचर होने लगेगा। निश्चयसे देखो धर्म आत्मस्वरूपमें है, आत्मस्वरूपमें स्थिर होने पर ही धर्म प्राप्त होगा। मन्दिर, मूर्ति और शास्त्र तो उस धर्मको प्राप्त करनेकेलिए साधन मात्र हैं इनसे धर्म प्रगट नहीं होगा जब भी धर्म प्रगट होगा, भीतर से हीहोगा। किसीने कैसा अच्छा कहा है—

लाल बिना कोई नहीं सबके पल्ले लाल।
गाठ खोल देखो नहीं, यातें भये कंगाल॥

आत्माराम रूपी लाल-माणिक हर एकके पल्लेमें

बधा हुआ है, पर इसने कभी गाठ खोलके नहीं देखा, इसलिए कंगाल बना डोलरहाहै। भैया, हियेकी गांठ खोला, लाल चमकरहाहै।

अथ चारित्रपरिणामसंपर्कासंभवादत्यन्तहेयस्य शुभ-परिणामस्य फलमालोचयति—जहा चारित्रपरिणामका संपर्क संभव ही नहीं, ऐसा अशुभ परिणाम तो अत्यन्त हेय है भावार्थ अब इस बातकी आलोचना करतेहैं। यहां कारे क्रिया पदका प्रयोग न करके 'आलोचयति' शब्दका प्रयोग किया है। 'आ समन्तात् लोचयति= आलोचयति' अर्थात् सर्व ओरसे परीक्षा कर, निर्णय करते हैं कि अशुभ परिणामका फल किस गतिमें कैसा है।

असुहोदयेण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो।
दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिधुदो भमइ अच्चंत ॥१२॥

अशुभोपयोगके निमित्तसे जो यह पाप कर्म उपार्जन करताहै, उसके उदयसे यह जीव यदि मनुष्योंमें उत्पन्न होतो लोगोंमें न ... ामें ही उत्पन्न होगा। ... नहीं, किन्तु महा ... भी परिपूर्ण अग ... । विक-

होगा, जहा कि कोई उसे पानी पिलानेवाला भी न मिले। वहा जन्म लेकर भी सदा रोगी, शोकी और कोढी बना हुआ जीवन भर दु ख उठाता रहेगा, रात-दिन रोगकी वेदना और भूख प्यासकी ज्वालासे ही जलता रहेगा। 'जैसी करणी वैसी भरणी' का नियम अकाट्य है, वह भोगना पडेगा। प्रश्न—वह अशुभोपयोग क्या है जिसका कि फल दुर्गति है? उत्तर—मिथ्यात्व रूप परिणाम होना, हिंसा करना, झूठ बोलना, चोरी करना, कुशील सेवना और परिग्रहके उपार्जन, सरक्षण करनेमें ही लगे रहना, दयाका अभाव होना आदि कार्य करनेमें उपयोग लगाना सो अशुभोपयोग है।

इस अशुभोपयोगके फलसे ही यह कदाचित् मनुष्यों में उत्पन्न होजाय, तो ऊपर जैसा बतायागयाहै, वैसा कुमनुष्य होताहै। और इसीके फलसे यह तिर्यचोंमें पैदा होताहै। तिर्यंचगतिके दु ख सबके प्रत्यक्ष ही हैं। लोग जिन पशुओंको पालतेहै, उन्हें भी रात-दिन बोझा लादकर, गाडीमें जोतकर उन्हे जर्जरित कर देतेहैं, वक्त पर खाने-पीनेका कोई ठिकाना नहीं। जिन पशुओं का दूध पीतेहै, उनको ही दूध देना बन्द करनेपर कसाइयोंके यहा बेंच आतेहै। आज अन्नकी कमी का बहाना लेकर लोग अगणित पशु-पक्षियों, अण्डे-मुर्गी

और मच्छियोंको मार-मार कर खारहेह, उन्हे जीवित ही अग्निमें भून डालतेह । कितने ही शिकारी बेचारे निरपराध शाकाहारी हरिणों आदिको अपनी गोलीका निशाना बनातेह, कितने ही कोमल चमडा प्राप्त करने केलिए गर्भिणी भेडो आदिको दौडा-दौडा कर उनके गर्भ गिरादेतेहैं, कसाईखानोमें प्रतिदिन असख्य पशु काटे जातेह । पशुगतिके दु खोंको कहा तक कहाजाय, जहा स्वय माता ही अपने बच्चोको खाजातीहै । कहते हैं कि सर्पिणी अनेक बच्चोंको एक साथ जन्म देतीहै और उन्हे एक घेरेमें घेरकर रखतीहै और क्रम क्रमसे उन्हे खाजातीहै । जो एकाध भाग निकला, वही बच पाताहै । भूखी कुत्ती अपने नवजात बच्चोको खाती हुई देखी जाती है, इससे बढकर और कौन दु ख हो सकताहै अशुभकर्मके उदयसे ही ये सब तिर्यंचगतिके दु ख प्राप्त होतेह । विकलत्रयकी असख्य पर्यायोंमें एकेन्द्रियोकी असख्य जातियोमें यह जीव अशुभोपयोग का ही फल भोगा करताहै । और देखो, नरकगतिके जो महादु ख है, जिनके वर्णनोसे अनेको शास्त्र भरे पडे ह, और जिनका वर्णन सुनकर हृदय दहल उठता है उन सहस्त्रो जातिके मार-काटके महादु खोके यह जीव नरकमें असख्य वर्षोंतक जो भोगताहै, वह भी

इस अशुभोपयोगका ही फल है, कहनेका साराश यह कि ससारमें जितने भी दु ख ह, वे सब अशुभोपयोग के ही फल ह, ऐसा जानकर हमें अशुभोपयोगको दूरसे ही छोडनाचाहियें ।

अशुभ कार्योसे निवृत्त होने और शुभ कायमें प्रवृत्त होनेको आचार्योंने व्यवहारचारित्र कहाहै । हम शुभ कार्योकी बातें तो बहुत करतेह, पर करते धरते कुछ नहीं, तो इससे कुछ नहीं होगा । कितने ही लोग दान देनेकी बात करतेह और कोई बहाना लेकर छल प्रगट करतेहैं कि हमें यह अडचन नहीं होती, तो हम भी दान देते । पर भया, जिसके दान देनेके भाव हो, वह कोई न कोई मार्ग दान देनेका निकाल ही लेताहै । कुछ लोग कहतेह कि हमारे तो दान देनेकी अनुमोदना है । पर उन्हें यह पता नहीं कि केवल अनुमोदनके अधिकारी कौनह ? जो बिचारे पशुपक्षी दान देनेके भाव रखते हुए भी दान देनेमें असमयहैं, जिनमें अगो-पगोकी रचनाही ऐसी है कि उनके दान देना सभव ही नहीं, वे यदि किसीको दान देते हुए देखें और अपनी विवशताका अनुभव करते हुए दानकी करे अनुमोदना तो उन्हें दानका अनुमोदक कहा गयाहै । पुराणोंमें ऐसे ही नकुल, सिंह आदि को दानकी अनुमोदना करनेवाला

उसकी ऐसी बात सुनकर लकडहारेको भी गुस्सा आगया और बोला, अरे, किस बेईमानका नौकरहै, जो इस प्रकार मोल तोल करताहै, मै एक बात कहता हू, आठ आनेसे कम नहीं लूगा । सेठजी उसकी बातें सुनकर चौंके और बोले—भाई लकडहारे मेरी-तेरी तो बात ही नहींहै, तेरी और रसोइयकी बातें होरहीहै, वही भाव कररहाहै, फिर तू मुझे बेईमान कैसे बनारहा है। वह बोला—सेठ जी, मने तो आपके साधुकी एक दिन की ही सगति की, सो एक बात कहना सीख गया इतना कहकर पाच अणुव्रतोका पालन जैसा करता था बताया और उपदेश का उपकार मानकर बोला, सेठजी यह जैसेकी सगति करताहै, सो इसने वैसा ही सीखा है, यदि आपमें ऐसी भाव-ताव करने की आदत न होती, तो यह भी इतना भाव-ताव न करता । सेठजी सुनकर चुप होगये। यह एक कथा है, हमें अपने व्यवहार द्वारा अपने आचरणकी सफाईको प्रमाणित करनाचाहिए ।

लोग धमके उद्धारकी बढ़-बढ करके बातें करतेह, पर-उपकारकी भी डीगें हाका करतेहं । पर यह सब बेकार है, जब तक तुम अपना उद्धार नहीं करलेते, तब तक धमके उद्धार या परोपकारकी बात कोरी गप है

है। धमसे अपना उपकार हो सभव है, और हमें पहले अपना ही उपकार करना चाहिए। कहें सभी और करें कोई नहीं, तो उपकार कसे सभव है ? यदि कहना छोड एक जनोने भी अपना उद्धार कर लिया तो समझिये–एक अशका तो उद्धार हो गया। ३४३ राजु-प्रमाण इस घनाकर लोकमें कोई भी जीव दुखी न रहे, सब सुखी हो जांय, ऐसी भावनासे तीथकर प्रकृतिका बध होताहै। मै तीन लोकका उपकार करु, ऐसी कतव्य बुद्धिसे तीर्थकर प्रकृतिका बंध नही होताहै।

हम लोग पुण्यसे मिली धन सपदापर गर्व करतेह, पर भया मांग करके पहने गहनेपर गर्व कसा ? ये सब वभव पुण्यरूप साहूकारसे उधार मागकर लाये ह जिस दिन वह माग बठेगा- देना पडेगा, फिर उसपर इतना गव क्यों ? एक चक्रवर्तीके वैभवको उसके हजारो पुत्र भी नहीं सभाल पाते। यह लक्ष्मी सदा किसीके पास नहीं रही न रहेगी। फिर उसपर क्यों रीझ रहेहो। पुण्यके मैलको दूर हटाकर अपने शुद्ध तत्त्वपर दृष्टि रखो लक्ष्मी आत्माकी करामान नहीं वह तो पुण्य पापके अनुकूल आती जातीहै। एक सेठजी थे, भाग्यवश वे दरिद्र होगये। जब घरमें कुछ नहीं रहा तो किसी राजाके न्यायालयमें बैठकर अर्जीनवीसी

जाती है ? इतनेमें राजाकी आख खुली तो वह अपने ऊपर तलवार देखकर विचारने लगा कि यह मेराही दीवान यहा मेरी हत्या करना चाहताथा अब इसको यहा कुछ कहना उचित नही क्योकि रार बढनेपर यह मुझे यहीं मार डालेगा। दीवान यह सोचकर कि मैं यदि सत्य बात कहू तो राजाको क्या किसीको भी विश्वास नही हो सकता, तो दोनो चुपचाप चले जब राजा दरबारमें आगया, आतेही हुक्म देदिया कि दीवानको देशसे निकालदो और उसका घर लूटलो ऐसा ही किया गया। भाइयो ? परपदार्थका क्या विश्वास ? अपने स्वातन्त्र्यको देखो और प्रसन्न रहो यदि बाह्य अर्थका आश्रय (बहाना) करके अशुभोपयोग परिणति हो रही तो उसका फल कुमानुष व तिर्यञ्च नरकोमें भ्रमण करना ही है। तिर्यञ्चोके क्लेश तो आपके सामने प्रकट ही हैं। सर्पिणी अपने बच्चोको कुण्डलीमें रखकर स्वय खाती जातीहै। जहा माताही स्वय अपने बच्चेको खाजाय उस गतिमें और दुखोका तो कहना ही क्या ? यह अशुभोपयोग निर्दयताकी नींवपर खडे रहतेहै। इसीलियें तो दयाका बडा महत्त्व कहागया है। अनगारधर्मामृतमें लिखा है–"दयालोरव्रतस्यापि स्वगति

स्याददुर्गति । व्रतिनोऽपि दयोनस्य दुर्गति स्याददुर्गति । दयालु अव्रती भी हो तो भी उसे स्वगप्राप्ति सरलहै । दयारहित व्रती भी हो तो भी उसे दुर्गतिप्राप्ति सरल है । लौकिक सुखका मूल जो व्यवहार धम है वह "दयामूलो धम्मो है और आत्मीय अविनाशी सुखका मूल जो धम है वह "दसणमूलो धम्मो" है ।

भया [1] यह ससार है यहा किसीको कोई कितना भी चाहेसहाय हो ही नहीं सकता, वस्तुका स्वरूप ही ऐसा स्वतत्र है । हमारीसुख दुखकी जुम्मेदारी हमही पर है । हम मनुष्य हैं ससारके प्रत्येक प्राणियोसे हमारा स्थान ऊचा है हितकर है यदि हमने ऐसे अमूल्य अवसरको ही खोदिया तो बताओ इससे बढकर और कोई मूर्खता है ? नहीं । मनुष्यकी कीमत नैतिकतासे है । ससारमें कौनसा पदार्थ मेरा है जिसके आश्रय हिंसा झूठ चोरी विश्वासघात कुशील तृष्णा आदि अशुभोपयोगमें व्यासक्ति आवश्यक समझी जावे । अपने जीवनकी चर्या देखो, दुर्गुणसे माफी मागलो हे वीतराजो अब तक अज्ञानके प्रसादसे आपकी जी हजूरीमें यह अनाथ रहा । अब अपने नाथको पहिचाना आप कृपा करके विदा हूजिये । मेरा जगतमें कुछभी नहीं मै तो अकेला हू शुद्ध हू दशन ज्ञानमय हू अरूपी

जाती है ? इतनेमें राजाकी आख खुली तो वह अपने ऊपर तलवार देखकर विचारने लगा कि यह मेराही दीवान यहा मेरी हत्या करना चाहताथा अब इसको यहा कुछ कहना उचित नही क्योंकि रार बढ़नेपर यह मुझे यहीं मार डालेगा। दीवान यह सोचकर कि मैं यदि सत्य बात कहू तो राजाको क्या किसीको भी विश्वास नही हो सकता, तो दोनो चुपचाप चले जब राजा दरबारमें आगया, आतेही हुक्म देदिया कि दीवानको देशसे निकालदो और उसका घर लूटलो ऐसा ही किया गया। भाइयो ? परपदार्थका क्या विश्वास ? अपने स्वातन्त्र्यको देखो और प्रसन्न रहो यदि बाह्य अर्थका आश्रय (बहाना) करके अशुभोपयोग परिणति हो रही तो उसका फल कुमानुष व तिर्यन्च नरकोमें भ्रमण करना ही है। तिर्यन्चोंके क्लेश तो आपके सामने प्रकट ही है। सर्पिणी अपने बच्चोंको कुण्डलीमें रखकर स्वय खाती जातीहै। जहा माताही स्वय अपने बच्चेको खाजाय उस गतिमें और दुखोका तो कहना ही क्या ? यह अशुभोपयोग निदयताकी नींवपर खड़े रहतेहै। इसीलिये तो दयाका बड़ा महत्त्व कहागया है। अनगारधर्मामृतमें लिखा है—"दयालोरव्रतस्यापि स्वगति

स्याददुगति । अतिनोऽपि दयोनस्य दुर्गति स्याददुगति । दयालु अव्रती भी हो तो भी उसे स्वगप्राप्ति सरलहै । दयारहित व्रती भी हो तो भी उसे दुर्गतिप्राप्ति सरल है। लौकिक सुखका मूल जो व्यवहार धर्म है वह "दयामूलो धम्मो है और आत्मीय अविनाशी सुखका मूल जो धर्म है वह "दसणमूलो धम्मो" है ।

भैया ! यह ससार है यहा किसीको कोई कितना भी चाहेसहाय हो ही नहीं सकता, वस्तुका स्वरूप ही ऐसा स्वतत्र है। हमारीसुख दुखकी जुम्मेदारी हम ही पर है। हम मनुष्य ह ससारके प्रत्येक प्राणियोंसे हमारा स्थान ऊचा है हितकर है यदि हमने ऐसे अमूल्य अवसरको ही खोदिया तो बताओ इससे बढकर और कोई मूखता है ? नहीं। मनुष्यकी कीमत नतिकतासे है। ससारमें कौनसा पदार्थ मेरा है जिसके आश्रय हिंसा झूठ चोरी विश्वासधात कुशील तृष्णा आदि अशुभोपयोगमें व्यासक्ति आवश्यक समझी जावे। अपने जीवनकी चर्या देखो, दुगु णसे माफी मागलो हे दोषराजो अब तक अज्ञानके प्रसादसे आपकी जी हजूरीमें यह अनाथ रहा। अब अपने नायको पहिचाना आप कृपा करके बिदा हूजिये। मेरा जगतमें कुछभी नहीं म तो अकेला हू शुद्ध हू दर्शन ज्ञानमय हू अरूपी

हू मेरा परमाणुमात्र भी कुछ नहीं है। ज्ञान प्रकट होनेके वाद दोषोकी दाल नहीं गलेगी। ज्ञान प्रकट होनेका एक चिन्ह है– ज्ञानीके व्यवहारमें सब सुखद नीति श्रा ही जाती है। हमारा व्यवहार सरल, सुखद, विश्वासपूर्ण होना ही चाहिये तब ही हम (पर्यायमें) मानव कहलानेके अधिकारी है, अन्यथा पशुवोसे भी गये बीतेहै क्योकि पशुवोमें भी विश्वासमय जीवन देखाजाताहै। एक मनुष्य जगलमें जारहा था इतनेमें सिंह दिखा मनुष्य एक ऊचे पेडपर चढगया सिंह नीचे आगया, उस पेडपर एक रीछ बठाथा अब तो मनुष्य वडा घबडाया कि नीचे शेर और पेडपर रीछ। तब रीछने सकेत किया कि हे मनुष्य मत घबडावो तुम शरणमें आयेहो म तुम्हारी रक्षा ही करूगा। मनुष्यको सतोष हुआ। बहुत देरबाद मनुष्यको नीद आनेलगी। रीछने कहा भाई इसी चौडी शाखापर निश्चिन्त होकर सोओ। मनुष्यके सोजाने पर सिंह रीछसे बोला रे बेवकूफ तू जानता नहीं है कि यह मनुष्य वह जानवर है जो सभी जानवरोको मौतके घाट उतार देता, अभी म नीचे बठा हू इसी लिये तेरी कुशल है जब मैं चला जाऊगा तब तेरी भी हत्या करडालेगा। अभी मौकाहै तू इसे ढकेलदे मैं इसका काम तमाम करदूगा।

रीछ बोला हे वनराज ! मैने इसे शरणका विश्वास दिया है इससे मैं इसे हानि नही पहुचा सकता । कुछ देर बाद मनुष्य जगा और रीछ सोने लगा तब सिंह मनुष्यसे बोला रे मूख क्या देखताहै यह रीछ है तेरा खून चाटकर तुझे मार डालेगा इसे तू पटकदे म इसे मार-डालूगा फिर तू निर्विघ्न अपने घर चलेजाना । सिंहके वहुत समझानेपर उसके मनमें दुर्भाव आगया और वह रीछको ढकेलनेलगा परन्तु रीछ जगा और सभलगया। तव सिंह वोला देख रीछ इस मनुष्यकी करतूतको । अवभी तू इसे पटकदे । तब रीछ बोला हे मृगराज यदि मनुष्य अपना विश्वास खोदे तो खोदे परन्तु म तो पशु हू जो एक बार अभय देदिया सो म विश्वास-घात नहीं करसकता । साराश यह है कि हम पशुवोसे बहुत ऊचे चढेहुए स्थानपर है हमें अपना हृदय साफ निमल बनाना है अशुभोपयोगमे अत्यन्त दूर रहनाहै । नही तो अशुभोपयोगका फल इन्हीं कुमानुष तियञ्च नारकियोंमें पदा होकर भ्रमण करना ही है । यह भ्रमण स्वयही महान् दु ख है, जन्मना मरना ही सबसे बडा दु ख है । पूजनमें भी सबसे पहले इसी जन्म-मरण के विनाश करनेकेलिए जल चढया जाताहै । जन्म सभी

अब्बहुल भागमें धर्मा नामक नरक हैं। दूसरी शर्करा पृथिवीमें दूसरा वशा नामक नरक है तीसरी पृथिवीमें मेधा नामक नरक है। चौथी पृथिवीमें अजना नामक, पाचवीमें अरिष्टा नामक, छठीमें मघवी नामक और सातवींमें माधवी नामक नरक ह। पहली पृथिवीकी मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन है। दूसरी आदिपृथिवियोकी मोटाई क्रमसे बत्तीस हजार, अट्ठाईस हजार, चौबीस हजार, बीस हजार, सोलह हजार और आठ हजार योजन है। इनकी लम्बाई लोकके अन्ततक फलीहुईहै। नरकमें नारकियोंके रहनेके स्थानोको बिल पहतेह, क्योकि इनये मुख मकान या कमरेके समान व्यवस्थित और किसी एक दिशाकी ओर नियत नहीं होते। चूहे आदिके विलोंके समान अव्यवस्थित, टेडे-मेडे और अनेक आकार-प्रकार वाले होतेह। फिरभी मूषकबिलके मुख ऊपर नि सृत है परन्तु नरकबिलका किसी ओर भी मुख नहीहै। सातो नरकोमें बिलोकी सख्या क्रमश ३० लाख, २५ लाख, १५ लाख, १० लाख, ३ लाख, पाच कम १ लाख और ५ हैं। इन सबका जोड ८४ लाख होताहै। इनमें प्रथम नरकसे लेकर पाचवें नरकके तीन चौथाई भागतक अत्यन्त उष्णवेदनाका दु ख है और पांचवें नरकके एक चौथाई

में, तथा छठे और सातवें नरकमें केवल शीतवेदनाका महादुःख है। सातों नरकोंके ४६ पटल है। इनमेंसे पहलेमें १३, दूसरेमें ११, तीसरेमें ६, चौथेमें ७, पाचवेमें ५, छठेमें ३ और सातवें नरकमें १ पटल है। इन पटलोको मकानकी मजिलके समान जानना चाहिए। प्रत्येक नरकके पटल एकके नीचे एकके रूपसे अवस्थित है। प्रत्येक पटलमें तीन प्रकारके नरक बिले है। बीचमें जो नरक बिल है, उसे इन्द्रक बिल कहते हैं। उसके चारों दिशाओंमें और चारो विदिशाओंमें जो पक्तिबद्ध बिले है, उन्हे श्रेणीवद्ध बिल कहते है। इन श्रेणीवद्ध बिलोंके मध्यवर्ती अन्तरालमें जो फुटकर बिल होतेहै। उन्हे प्रकीर्णक बिल कहतेहै। पहले नरकके इन्द्रक बिलका नाम सीमन्तक है इसके चारों दिशाओंमें ४६ ४६ श्रेणीवद्ध बिल होतेहै और विदिशाओंमें ४८ ४८ श्रेणीबद्ध बिल होतेहै। दूसरे पटलमें भी ठीक इसी प्रकारकी रचना होतीहै, भेद केवल इतना होजाताहै कि दिशा और विदिशाके श्रेणीबद्धोंमे एक एक सख्या कम होजाती है। इस प्रकार नीचे नीचेके पटलोमें श्रेणीबद्ध नरक बिलोकी एक एक सख्या कम होती जातीहै। इस प्रकार घटते घटते सातवें नरकका जो उनचासवा पटल है उसमें बीचमें एक इन्द्रक बिल

और चारोदिशाओमें एक एक श्रेणीबद्धबिल रहजाताहै, विदिशामें श्रेणीबद्ध बिल नहीं रहता। पहले नरकके जो १३ पटल ह उनके नाम इस प्रकारह— १ सीमंतक, २ निरय, ३ रौरव, ४ भ्रान्त, ५ उद्भ्रांत, ६ सम्भ्रांत, ७ असम्भ्रांत, ८ विभ्रांत, ९ त्रस्त, १० त्रसित, ११ वक्रांत, १२ अवक्रांत और १३ विक्रान्त। दूसरे नरकके ११ पटलोके नाम इस प्रकार हैं— १ ततक, २ स्तनक, ३ वनक, ४ मनक, ५ खड, ६ खडिक, ७ जिह्व, ८ जिह्विक, ९ लोलिक, १० लोलवत्स, और ११ स्तन लोल। तीसरे नरकके ९ पटलोके नाम इस प्रकार हैं— १ तप्त, २ तपित, ३ तपन, ४ तापन, ५ निदाघ, ६ उज्ज्वलित, ६ प्रज्वलित, ८ सज्वलित और ९ सप्रज्वलित। चौथे नरकके ७ पटलोके नाम— १ आर, २ मार, ३ तार, ४ चर्च, ५ तमक, ६ घाट और ७ घट। पाचवें नरकके ५ पटलोके नाम— १ तमक, २ भ्रमक, ३ झपक, ४ अन्धेन्द्र और तिमिश्र। छठे नरकके ३ पटलोके नाम—१ हिमवत्, २ वादलि, और ३ लल्लक। सातवें नरकमें एक अवधिस्थान नामक ही पटल है। ४९ पटलोमें पहले पटलमें जो सीमंतक नामक इन्द्रक बिल है उसका विस्तार ४५ लाख योजन है और अंतिम ४९ वा जो अवधिस्थान नामका इन्द्रकबिल

है उसका विस्तार १ लाख योजन है। मध्यवर्ती इन्द्रकोंका विस्तार क्रम क्रमसे कम होता गयाहै । इस प्रकार इन्द्रक बिलोंका विस्तार सख्यात योजन प्रमाण ही कहागयाहै । दिशा और विदिशामें जो श्रेणीबद्ध बिल हैं, उनका विस्तार असख्यात योजन प्रमाण है । इन श्रेणीबद्धोके बीचमें जो फुटकर प्रकीणक बिल ह उसमें कितने ही सख्यात योजन विस्तारवाले ह और कितने ही असख्यात योजन विस्तारवाले हैं । इन बिलाकी चारो ओरकी दीवालें वज्रमयी होतीह । उन बिलोंके आकार अनेक प्रकारके हैं, कितनेही गोल, कितने ही त्रिकोण, कितने ही चतुष्कोण, पचकोण आदि विविध आकारवाले ह । जो जीव बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रहमें आसक्तचित्त होतेहैं, निरतर अशुभोपयोगी सक्लिष्ट चित्त रहतेह, रौद्रध्यानी होतेह, जिन्हे मारने काटनेमें ही आनन्द आताहै, वे जीव नरकायुका बन्धकर नरकोंमें उत्पन्न होतेह नारकियोका उपपाद जन्म होताहै अर्थात् वे माता-पिता आदिसे उत्पन्न नहीं होते । किन्तु ऊट, व्याघ्र, मगर, आदि बीभत्स आकारवाली उपपादशय्याएँ होतीहैं, उनमे उत्पन्न होकर और अन्तमुहूर्तके भीतर ही शरीरको प्राप्तकर पूरा जवान नारकी बनजाताहै । शरीरके पूर्ण तैयार होते ही वह उपपाद शय्याओंसे,

जो कि बिलोके ऊपरी भागम होतीहै और जिनके मुख नीचे होतेह, नीचे औंधा मुख होकर जमीनपर गिरताहै। वहाकी भूमि इतनी जहरोली होतीहै कि उसका स्पर्श करते ही नारकीको हजारो लाखो विच्छुओंके एक साथ काटनेसे भी अधिक उग्रवेदना होतीहै और वह चिल्ला कर ऊपरको उछलताहै। सातवे नरकका नारकी जमीनका स्पशकर उसके दु खसे अति सतप्त होकर ५०० योजन ऊपरको उछलताहै। छठे नरकमे २५० योजन ऊपर उछलताहै। पाचवें नरकमें १२५ योजन ऊपर उछलताहै। चौथे नरकमे ६२॥ योजन ऊपर, तीसरेमे ३१। योजन, दूसरेमे १५$\frac{१}{८}$ योजन और पहलेमें ७$\frac{१३}{१६}$ योजन ऊपर उछलताहै। ये नारकी ऊपर उछल करके तुरन्त ही फुटबालके समान नीचे गिरतेह और फिर ऊपर उछलतेह, इस क्रमसे सैंकडो बार ऊपर और नीचे उछलनेके बाद बेहोशसा या अधमरा होकर जब नारकी जमीनपर पड जाताहै, तो पुराने नारकी उसे देखते ही शिकारी कुत्ते जैसे शिकार पे ऊपर टूटतेह, उसी प्रकार उसपर टूट पडतेहैं। और अत्यन्त निष्ठुर कठोर वचन बोलतेहुए उसे मारतेहैं, और उसके घावोंपर खारा गमपानी सींचतेहैं। उस पानीके सींचनेसे जो महावेदना उसे होतीहै, उससे वह चिल्ला-

कर भागताहै और नारकी शिकारीके समान उसका पीछा करतेहैं । यदि वह पहाडमे शरण पानेकेलिए जाताहै, तो ऊपरसे बडी बडी शिलाए उसके शिरपर गिरतीहैं, जिससे उसका मस्तक चूर्ण-चूर्ण होजाताहै । वहासे भागकर यदि बनमे प्रवेश करताहै, तो वहाके वृक्षोंके पत्ते जो कि तलवारकी धारके समान तेज होतेहैं, उसके ऊपर तडातड करके गिरतेहैं, जिससे उसका सारा शरीर छिन्न-भिन्न होजाताहै, उसी समय नारकी लोग भेडिया, व्याघ्र, गिद्ध, काक आदि पशु पक्षियों का रूप धारण कर उसे खानेकेलिए दौडतेहैं, तब वह अपनी जान बचानेकेलिए चारों ओर मारा मारा फिरता है । जब कहीं कुछ शरण नहीं दिखता, तो वह वैतरणी नदीमे जा गिरताहै, कि चलो– यहीं कुछ शांति मिलेगी । पर उसमे प्रवेश करते ही वह और भी अधिक दुःखका अनुभव करताहै, उसके खारे और गर्म जलसे उसका शरीर जलने लगताहै, मगर मच्छादि वैरी चारों ओरसे खानेकेलिए दौडतेहैं । वह वहाभी महादुःख का अनुभव कर उससे बाहर निकलताहै, तो दूसरे नारकी पकडकर उसे तेलकी तपतीहुई कढाइयोंमें डालदेतेहैं और उसे त्रिशूलोंसे छेदते और पूडी-कचौडी के समान ...

लेलिये । एक पण्डित ब्रह्मचारीजीके हिस्सेमें तीसरा अध्याय आया । कुछ लोकोंके मजाकसे उन्हे यह कुछ अच्छा न लगा--शायद नरकोके वर्णनसे उन्हे कुछ ग्लानी या उद्वेग सा हुआ और उन्होने उस अध्यायको मेरे सुपुर्द करदिया । तीसरे दिन जब म शास्त्रकी गद्दी परबैठा, तो मैंने कहा—लोग तत्वार्थसूत्रको समुच्चय अर्घ चढातेहं और प्रत्येक अध्यायको भी पृथक् पृथक् अर्घचढातेहैं । जब प्रत्येक अध्यायको अर्घचढाया गया, तो उसके प्रत्येक सूत्रको अर्घका चढना स्वत सिद्ध होगया । अथवा जैसे सहस्त्रनामके एक-एक नामको अर्घ चढाया जाताहै उसी प्रकार यदि कोई विस्तारके साथ तत्त्वार्थसूत्रका पूजन, विधान करे तो एक एक सूत्र को भी अर्घ चढाया जायगा । उस समय इस प्रकार का पाठ होगा 'परस्परोदीरित दु खा ' अर्घं, सक्लिष्टासुरोदीरितदु खाश्च प्राक चतुर्थ्या ' अर्घं, तो क्या इस प्रकार अर्घचढानेसे क्या उन नारकियोंको अर्घचढाया गया? नहीं । इसका अर्थ यह होगा कि जो आगमसूत्र इस बातको बतलारहाहै , उस सूत्रको अर्घचढारहाहू । इस में डरनेकी क्या बात है । और फिर शायद हम आप सभी इन नरकोमें अनेकोबार उत्पन्न होकर वहाके दु खोंका अनुभव करचुकेहं । यह दूसरी बात है कि

आज हमें वे दुःख याद न हो। पर आगमके सहारेसे उन नरकोका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और सोचना चाहिए कि तीन लोकमें कहा कैसी रचना है, यह सस्थानविचय धमध्यान है यद्यपि सस्थानविचय ध्यान ५ गुणस्थानतक नहीं होता तथापि उसका स्थूल रूप तो आता जाता और जब हम नरकोके दुःखोका चिन्तवन कर उनसे वचनेका उपाय सोचतेह, तो वह उपाय विचय धमध्यान होजाताहै। इस सर्व कथनका साराश यही है कि हमें उस अशुभोपयोगका दूरसे ही परित्याग कर देना चाहिए, जिसके फलसे कि हमें नरकोमें उत्पन्न होना पडताहै। नरकोमें उत्पन्न होनेका कारण वहुत आरभ और बहुत परिग्रह है। तथा नरकोमें उत्पन्न होनेको जहा बहुत आरभ और बहुत परिग्रह का होना कारण बतलाया गयाहै, वहा रात्रिभोजन को भी एक कारण बताया गयाहै। रात्रिभोजन महाहिंसाका कारणहै। जिस प्रकार अन्न खानेवालेकी अपेक्षा मास खानेवालेके अधिक गृद्धि देखी जातीहै, उसी प्रकार दिनमें भोजन करनेवालोकी अपेक्षा रात्रिमें भोजन करने वालोके भी अधिक गृद्धि और लोलुपता स्वयसिद्धहै। दूसरे रात्रिमें प्रकाशकी कमीसे [illegible] पडनेवाले जीव दृष्टिगोचर नहीं होते।

यदि बिजली आदिका तेज प्रकाश किया जाताहै तो उसके निमित्तसे और भी अधिक जीव आकर एकत्रित होतेह और मरतेहैं, उनकी इस महाहिंसाके कारण भी हमही बनतेह । फिर रात्रिमें आने जाने भोजन पकाने या पकेहुएको परोसने आदिमें अगणित जीवोंकी हिंसा होतीहै । रात्रिमें जूठन यदि कहीं फेंकते हैं, तो भी जीवहिंसा होतीहै और यदि उसे यों ही पडी रहने देतेह, तो भी उसमें अगणित त्रसजीव आकर मरतेहैं आप लोगोनें अक्सर देखा होगा कि जो दूधके गिलास वगरह रातको यो ही बिना मजे रखे रहजाते हैं, सबेरे उसमें अगणित चीटी आदि मरी चिपकीहुई पाई जातीहैं । इस प्रकार महाहिंसाका कारण जान करके हमें रात्रिभोजनका परित्याग करना चाहिए । जो लोग सरकारी आफिसोंमें काम करतेहैं, उन्हे चाहिए कि वे अपनी ड्यूटीके काय यथासम्भव शीघ्र करें, अपने अधिकारीको उस योग्यता और कुशलतासे परिचित करादें और शामके ५ बजतेही घर आने का अवकाश प्राप्त कर लेवें । यदि कदाचित् यह सभव न हो, तो वहीं शामका भोजन मगालें, या साथमें लेते जावें यदि ये दोनो बातें भी सभव न हो, तो फिर एक बार ही खानेकी आदत डालें, अनेक मनुष्य एकबार

खाकरके भी नीरोग, स्वस्थ एव कमठ बने रहतेहैं। यदि विचार हो, रात्रिभोजनके पापसे घृणा हो, तो कोई न कोई उपाय निकाल ही सकतेह, कितनेही लोग रातको अन्नतो नहीं खातेह पर मेवा मिठाई आदि अनेको दूसरी चीजोको खातेह सो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि उनके खानेपर भी जीवघातमें कोई फर्क नहीं पडता, जीवहिंसा उतनी ही होतीहै। पाक्षिक गृहस्थको सबसे छोटा त्याग यह बताया कि वह जल औषधिके सिवाय कुछ भी न ले अर्थात् रात्रिमें सिफ जल और औषधि लेनेकी ही छूट पाक्षिकको है, और चाहिये भी क्या ! यदि प्यास सतावे, तो पानी पी ले और रोगपीडा हो तो औषधि लेलेवे। बाकी सब प्रकारके खाद्य, स्वाद्य लेह्य आदि पदार्थोंके रात्रिमें खानेका त्याग करना ही चाहिए, वस्तुत रात्रिमें जल औषधि ले तो कहीं वह दोषसे नहीं बच जाता किन्तु उसका अभी त्याग नहीं। इसके अतिरिक्त रात्रिभोजन त्यागियोको कितनी ही बीमारिया नहीं होती, उसका स्वास्थ्य उत्तम रहताहै, पठन-पाठन धमसाधन कार्यों के लिए अवकाश मिलता है। रात्रिभोजियोको अनेक बीमारियाँ होतीहैं। प्राय सक्रामक बीमारियोके कीटाणु रात्रिमें अधिक सचार करतेह और वे भोजनके साथ

यदि धर्मका नेता होना चाहते हो तो हेयको त्यागकर आत्मतत्त्वकी सभाल करलो और अनत कालतक उसका सुख भोगो । भैया! शुभोपयोगका फल विपदा है और अशुभोपयोग फल तो विपदा है ही, जिसने इस आत्मतत्त्वको पहिचाना, उसे ही तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण आदिके, तथा इन्द्र-अहमिन्द्र आदिके सुखोंमें अन्तरगसे विरक्ति होतीहै । जीव किसी न किसी वस्तु में लीन रहना चाहताहै, चारित्रगुणका यही काम है । यदि इसे स्वबोध नहीं है, आत्मज्ञान प्रगट नहीं हुआ, तो जो चीज सामने आयगी, वह उसीमें लीन हो जायगा । चारित्रका काम लीन होनेका है । वह चारित्र मिथ्यात्वदशामें विषय कषायोमें लीन रहताहै और सम्यक्त्व हो जानेपर वह निजात्मरूपमें लीन रहने लगताहै ।

पूज्य श्रीमत्कुदकुदाचार्यने शुद्धोपयोगका फल कहनेके पूर्व स्वय आत्मशुद्धि की । उन्होने पहले अशुभोपयोगको हटाया । फिर वे शुभोपयोगको हटाकर शुद्धोपयोगको स्वीकार करतेहुए इस शुद्धोपयोग अधिकारका आरभ करते हैं । प्रारभ कब करते हैं ? अधिकारको प्राप्त करके । जबतक कोई किसी तत्त्व के कहनेका अधिकार नहीं प्राप्त करलेता, तबतक वह

उस तत्त्वको कहनेका अधिकारी नहीं। फिर आचार्य प्रारभ कहा करते ह ? अन्तरगमें प्रारभ करतेहैं। इसका अभिप्राय यह कि वस्तुतत्त्व जसा मनमें है, वसा ही ग्रथमें आये, अर्थात् शब्दरूपसे रचा जाये। और जैसा ग्रथमें आवे, वैसा ही मनमें हो।

इन कागजोपर जो ये अक्षर लिखेहैं, क्या यहीज्ञान है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रीअमृतचद्राचार्य सूरिजी समयसारमें कहतेहैं—

'न श्रुत ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानश्रुतयोर्व्यतिरेक

अर्थात् शास्त्र-कागजोपर लिखे गये अक्षर-श्रुत ज्ञान नहींहै, क्योंकि वे अचेतन हैं, इसलिए शास्त्र और वस्तुहै व ज्ञान और वस्तुहै। जब आत्मामें ज्ञान जगा, तो ये शब्द पकडे गये, या ये शब्द पत्र-निबद्ध शब्द पढे, तो यह ज्ञान भीतर आया। यहा कोई यह न समझ ले, कि शब्दोंमेंसे अथ निकलकर भीतर आत्मामें पैदा करतेहैं। नहीं, शब्दोंमेंसे अथ निकलकर ज्ञान नहीं पैदा होता, पर वह स्वय भीतरसे निकला करताहै। यदि शब्दोको पढनेसे ही ज्ञान पैदा होता, तो फिर किसी कठिन पक्तिको पढ़नेके साथ ही उसका भी अथ तत्काल ज्ञात हो जाना चाहिये। पर ऐसा नहीं होता, तो क्या उस पक्तिका अर्थ समझनेकेलिए उस पक्ति

के अक्षरोको कागजपर घिसताहै अक्षरोको साफ करता है कि इनमेंसे अर्थ निकल आवे ? नहीं तो फिर क्या करताहै? यह करताहै कि उस पक्तिको वाचकर और आख बन्दकर अपनी बुद्धिपर जोर देताहै और उसके भावको समझनेका प्रयत्न करताहै, उसका यह प्रयत्न ही उनके भीतर पक्तिके अर्थका ज्ञान प्रगट करताहै। साधु सदा छठे प्रमत्त गुणस्थानसे सातवें अप्रमत्तगुणस्थानमें और सातवेंसे छठेमें आता जाता रहताहै। जब आ० कुन्दकुन्द यह ग्रन्थ बनारहे होगे, तब भी उनके उपयोगकी प्रमत्तदशा और अप्रमत्तदशा बराबर परिवर्तित होतीरही होगी। अप्रमत्तदशामें शुद्धोपयोग के विचार मनमें उठते और प्रमत्तदशामें वे शब्दरूपसे निर्मित होकर कागजपर अकित होते। इस क्रमके साथ ही प्रकृतग्रन्थकी रचना हुई है।

तत्र शुद्धोपयोगफलमात्मन प्रोत्साहनार्थमभिष्टौति--

अब ग्रन्थकार अपनी आत्माके और अपने समान सभी आत्माओंके प्रोत्साहनके लिए शुद्धोपयोगका फल प्रकाशित करतेह। यहा 'उच्यते प्रकाशयति' आदि क्रियापदोका प्रयोग न करके आचार्यने 'अभिष्टौति' पद का प्रयोग कियाहै। यह पद 'अभि उपसर्गपूर्वक स्तुञ् प्रशसाया' धातु से बनाहै, जिसका अर्थ होताहै कि भले

प्रकार सर्व ओरसे गद्गद होकर प्रशसा करतेह। प्रश्न—पहले शुद्धोपयोगके कारण आदि क्यों नहीं कहे, फल ही क्यो कहा ? उत्तर—पहले फल कहनेका कारण यह है कि श्रोताजन फल सुनकर उसके पानेकेलिए उत्साहित हो जावें।

शुद्धोपयोगका फल भेदविवक्षासे अनाकुल सुखहै। परतु अभेदविवक्षासे अनाकुलसुखस्वरूप शुद्धपयोगहीहै। आ० कुदकुद महाराज इसी बातको गाथा द्वारा प्रगट करते हैं—

गाथा—अइसयमादसमुत्थ विसयातीद अणोवममणत।
अव्वुच्छिण्ण च सुह सुद्धु वओगप्पसिद्धाण ॥१३॥

अथ शुद्धोपयोगियोंका सुख अतिशयवान्है ससारके जितने बडेसे बडे देवेन्द्र अहमिन्द्रादिके सुख ह, उनसे भी अपूर्व है, अदभुत है, परम आल्हादरूप है। जिसकी कि ससारी जीव कल्पना ही नही करसकता। एक तीन दिनके भूखे भिखारीको कहींसे मागनेपर सूखे, रूखे रोटीके दो चार टुकडे मिल जाय फिर उससे कोई कहे कि हे बाबा, इन बासे, गन्दे टुकडोको फेंकदे और मेरे साथ चल, मैं तुझे बढिया ताजा भोजन कराऊगा, तो उसे विश्वास ही नहीं आता, कि कहीं इन टुकडोसे भी बढिया भोजन हो सकताहै अथवा प्राप्त हो सकताहै ?

जन्मसे लेकर आजतक जिसने उन रूखे-सूखे टुकडोंके सिवाय बढिया भोजन देखा ही नहीं, वह उसकी कल्पना ही नहीं करसकताहै । इसीप्रकार जिस ससारी जीवने अनादिकालसे आत्मीय सुख देखा ही नहींहै और जो इन पचेन्द्रियोंके क्षणिक सुखाभासोंको ही सुख मानता आ रहाहै, उसे यदि श्रीगुरु कहतेहैं कि वत्स, इन इन्द्रिय-सुखरूप टुकडोंको फेंको, हमारे साथ चलो, हम तुम्हें उत्तम सुख प्राप्त करावेंगे। तो उसे गुरुवचनोंपर विश्वास ही नहीं होता कि इन इन्द्रियोंके सुखोंसे भी बढकर कोई और भी सुख होसकताहै ? उसके मनमें यह बात जम ही नहीं सकती, क्योंकि दिमागमें तो वही अनादिकालीन कुसस्कार घर कियेहुएहैं । पर जिसने आत्मस्वरूपको पहिचान लियाहै, वही विषय-कषायोंको छोड सकताहै। इसी बातको समन्तभद्राचार्यने कहाहै कि– मोहतिमिरापहरणे दर्शन लाभादवाप्तसज्ञान । रागद्वेषनिवृत्त्य चरण प्रतिपद्यते साधु ॥ अर्थात्–जबआत्मा के ऊपरसे अनादिकालका लगा हुआ मोहरूप अन्धकार दूर होजाताहै और सम्यग्दर्शन के लाभके साथ-साथ सम्यग्ज्ञान प्राप्त होजाताहै, तब वह साधु रागद्वेषकी निवृत्तिकेलिए चारित्रको प्राप्त होताहै । निजस्वभावकी स्थिरताको प्राप्त होताहै ।

इसका अर्थ यही निकलता है कि यह जीव पहले सम्यक्त्वी बन जाय, तभी रागद्वेषकी निवृत्तिकेलिए चारित्रका उदय होताहै। हमें एक बार सबसे मोह छोडना होगा, अपनेको सबसे भिन्न और असहाय समझना होगा, तभी आत्मस्वरूपके दर्शन होंगे और तभी उस अतिशयवान सुखके दर्शन होंगे जो कि सुख परम अद्भुत है, आल्हादस्वरूप है। जिसे एकबार उसकी झांकी होजातीह, वह राज पाट सभी पुत्र और धन-वैभवको जीर्ण-तृणके समान छोडकर साधु बनजाताहै। सुकौशलके पिता राजा कीर्त्तिधरको जब आत्मबोध हुआ और वैराग्य प्रगट हुआ, तो वह छोटे से राजकुमार और रानीको छोडकर साधु बनगये। रानीको उनके साधु बननेसे दिलमें बडी चोट लगी—और सोचने लगी—देखो यह कितना निर्दय है, इसने जरासे पुत्रतकका भी ख्याल नहीं किया और साधु बन गया। उसे साधुओंसे बडी घृणा होगई और उनका मुह देखना पाप समझने लगी। एक बारकी बात है कि रानी अपने पुत्रके साथ राजमहलके ऊपरवाली बारहदरीमें बठीथी कि उसने राजमार्गसे राजमहलकी ओर आते उन्हीं कीर्त्तिधर साधु-को—जो कि उसके पति थे—देखा तो फौरन दासियोको हुक्म दिया कि

जाओ इस नगेको भीतर मत घुसनेदो, धक्का मारकर बाहर निकाल आओ, ये नगे यहा आकर राजभवनको भी गन्दा करदेंगे। रानीकी ऐसी आज्ञा सुनकर समीप में खडी हुई धायके आसू आगये और सोचने लगी– देखो, जिसका यह राजसुख भोग रहीहै, उसी अपने पतिके साथ इसका ऐसा व्यवहार ! उसकी आखोंमें आसू देखकर बालक सुकौशल पूछने लगा––मा, तू क्यो रोरहीहे। उसने कहा, कुमार आज तेरा पिता, जो साधु बनगयेथे आहारकेलिए राजमहलमें पधाररहेथे उन्हे देखकर क्रोधित हो तुम्हारी माताने उन्हें धक्के देकर निकलवा दिये और अपशब्द कहे। मुझे यह देख कर भारी दुःख होताहै, और इसी कारण मेरी आखों से आसू निकलरहे ह। सुकौशल धायके इन बचनोको सुनकर बडा दुखी हुआ, उसे ससारसे वराग्य होगया, कि जहा स्त्री ही अपने पतिके साथ ऐसा व्यवहार करसकतीहै, वहा औरोकी क्या कथा है ? ऐसा सोच कर और विरक्त होकर उसनेभी जगलका रास्ता पकड लिया। माने बहुतेरा रोका, मन्त्रियोने समझाया, राज्य के उत्तराधिकारकी बात कही। स्त्रीने रोका कि जो बालक मेरे गर्भमें है, उसके उत्पन्न होनेतक तो घरमें रहो, पर वह नहीं माने, और यह कहकर बनको चल

दिये, कि जो बालक मेरी स्त्रीके गर्भमें है, वही राज्य का अधिकारी माना जाय, म उसे ही राजतिलक करताहू ।

जिसे सच्चा वराग्य प्रगट होजाताहै, भीतर भेद विज्ञान जग जाताहै, जिसके दिलपर ससारके दु खो की अमिट चोट अंकित होजाती हैं, वह फिर ससारमें रह नहीं सकता । फिर उसे न स्त्री पुत्र रोक सकतेह और न ससारके अन्य वैभव ही । मोहियोंको निर्मोहियोपर आश्चर्य होताहे और निर्मोहियोंको मोहियोपर आश्चर्य होताहै । मिथ्यात्वीको सम्यक्त्वी जीव पागल से दिखतेह और सम्यक्त्वीको मिथ्यात्वी जीव पागलमे दिखते ह । श्रद्धाका महात्म्य बडा अपूर्व है ।

कसा है शुद्धोपयोगियोंका सुख ? आत्माको ही आश्रय करके उत्पन्न होताहै । जो सुख पराधीनह, वह सुख नहीं, दु खहीह । पराधीन सुख कष्ट राज्ञामपि महीजसाम् । तस्मादतत्समालोच्य स्वात्माधीन सुख कुरु ॥ महातेजस्वी राजाओंके भी पराधीन सुख कष्टरूप ही है, इसलिए हमें स्वाधीन सुखकेलिए प्रयत्न करना चाहिए । स्वाधीन सुख निजस्वभावके अनुभव बिना नहीं होता ।

बढिया भोजन करनेवाला लोगोंको सुखी दिखता

है। पर स्वय उस खानेवालेके कितनी आकुलता उस समयहै, यह वही अनुभव करताहै। हम भी उसकी कम से कम ऊपरी आकुलताको तो निरीक्षण करही सकते है, कि जिस समय वह लड्डू खारहाहै, उसी समय उसके सेव या कचौडी खानेकी आकुलता उत्पन्न होरहीहै, जो उसे मुखमें रखेहुए लड्डूका भी स्वाद सुख नही अनुभव करने देती खानेवाला एक वस्तुको खातेहुए उसका आनन्द नहीं लेपाता कि नई वस्तुके खानेकी आकुलता व्याकुलता उसे पीडित कर देतीहै और खातेहुए भी जो क्षणिक जिह्वा इन्द्रियका सुखहै, वह भी सुख निजसुख गुणके विकाररूप ही है। यही बात पाचो इन्द्रियोंके सुखोंमें समझना चाहिए। सुख किसी भी अन्य वाह्य पदार्थसेनहीं निकलता वह तो आत्माका स्वभावहै और वहींसे प्रगट होताहै। यदि गन्नेके रससे ही मिठासका सुख मिलता होता, तो मलेरिया ज्वर आनेवाले व्यक्ति को भी वह मीठा लगना चाहिए था। पर उसे गन्नेका रस कडुआ लगताहै। यह क्यो ? बात यह है कि जिसके भीतर विकार है, उसे वही कडुआ लगताहै और जिसके भीतर विकार नहीं, उसे वही मीठा लगता है। यह विकार ही दुखका जनक है। हमारे भीतर जो सुखका विकार भराहै, वह सब मोहका प्रसार ही

तो है। यदि यह मोहका प्रसार दूर होजाय और हमारी आखें किसी प्रकार खुलजाय तो हमारा स्नेह, ममत्व सब क्षणभरमें दूर होजाय। एक देहाती आदमी की बात है, उसका लडका एक शहरमें किसी कालेजमें अग्रेजी पढने गया। लडकेका पत्र आया कि मै खर्चेसे तग हू, रुपया भेजो। बापने सोचा, मनीआडर करेंगे, कितने दिनोमें पहुचेगा, बहुत दिनसे मने भी लडकेको देखा नहींहै, और यह सामने अमुक त्योहार है, चलो–जाकर हम ही रुपया दे आवें और कुछ मिठाई वगैरह भी दे आयेंगे। ऐसा सोचकर वह रुपया और मिठाई लेकर शहरको चला। बेचारा देहाती तो था ही, उसकी वेषभूषा भी देहातियो जसी थी, ऊची मली धोती, फटासा अगरखा, मटमैला साफा और टूटी जूतिया पहने वह कालेजमें पहुचा लडकेसे भेंट हुई, उस समय वह अपने साथियोके साथ सज धजकर बाबू बन कालेज में पढनेकेलिए जारहाथा, बापको आता देखकर स्तम्भित होकर खडा रहगया, उसकी कोई भी विनय नहीं की। बापने रुपया और मिठाई उसके हाथमें दे दी। साथी पूछने लगे, यह तुम्हारा कौन है ? उसने धीरेसे कहा–यह हमारा सर्वेन्ट (नौकर) है। बापने जो यह सुना, तो उसके पैरोके नीचेसे जमीन खिसक

वह मकानके बाहरही खडा मिलगया। वृद्ध बोला–लो भाई हम दोनों तो ससारसे विरक्त हो गयेहैं, अत जा रहेह। वह बालक बोला–लो हमभी साथ चलतेह, ऐसा कहकर उनके साथ हो लिया। वृद्ध बोला–भाई, इतनी जल्दी क्या पडीहै, अभी तुम्हारी सगाई हुए थोडेही दिन हुएहै, कुछ दिनों घर-गृहस्थीका सुख भोगा पीछे उदासीन होजाना। वह बोला––पहले कीचड लगाना और फिर धोना यह कहाकी बुद्धिमानी है, इससे यही अच्छाहै कि कीचडमें पर न रखाजाय, ऐसा कहकर किसीसे विना कुछ कहे सुनेही वह उनके साथ होलिया। इस व्याख्यानसे स्पष्टहै कि सुमति जगनेके लिए किसी अवस्थाविशेषकी दरकार नहीं हुआ करती। हमे भी किसी अवस्थाविशेषकी प्रतीक्षा न करके समयसारका स्वरूप पहिचानकर, श्रद्धान कर उसमे लीन होनेका प्रयत्न होनाचाहिए, यही अनुपम कार्यहै। समयसारकी प्राप्तिकेलिए स्वसमय परसमय का ज्ञान आवश्यकहै। स्वसमय क्याहै? उसका उत्तर समयसारमे इसप्रकारहै ––

यो हि नाम नित्यमेव परिणामात्मनि स्वभावे अवतिष्ठमानत्वात् उत्पादव्ययध्रौव्यैक्यानुभूतिलक्षणया सत्तयानुस्यूतश्चैतन्यस्वरूपत्वान्नित्योदितविशददृशिज्ञ-

त्तिज्योतिरनन्तधर्माधिरूढैकधर्मित्वादुद्योतमानद्रव्यत्व क्रमाक्रमप्रवृत्तिविचित्रभावस्वभावत्वादुत्सगितगुणपर्याय स्वपराकाराव भासनसमर्थत्वादुपात्तवैश्वरूप्यकरूप प्रतिविशिष्टावगाहगतिस्थितिवर्तना निमित्तत्वरूपत्वाभावादसाधारणचिद्रूपतास्वभावसद्भावाच्चाकाशधर्माधर्मकालपुद्गलेभ्यो भिन्नोऽत्यन्तमनन्तद्रव्यसंकरेऽपि स्वरूपादप्रच्यवनात् टंकोत्कीर्णचित्स्वभावो जीवो नाम पदार्थ स समय । अथ खलु यदा सकलस्वभावभासनसमर्थविद्यासमुत्पादक विवेकज्योतिरुद्गमनात्समस्तपरद्रव्यात्प्रच्युत्य दृशिज्ञप्ति स्वभावनियतवृत्तिरूपात्मतत्त्वैकत्वगतत्वेन वर्तते तदा दर्शनज्ञानचारित्रस्थितत्वात्स्वमेकत्वेन युगपज्जानन् गच्छंश्चस्वसमय इति ।

सम् उपसर्गपूर्वक 'अयगतौ, धातुसे 'समय' शब्द बनाहै । जो एककालमें ही जाने और परिणमन करे उसे समय कहतेहै । यह जीव नामक पदार्थ एक काल में जानता भी है और परिणमन भी करताहै, इसलिए यही समय है, यह समय--सज्ञावाला जीव नित्य ही परिणमनस्वभावमें रहनेसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यकी एकता रूप अनुभूतिलक्षणवाली सत्ताकर सहित है, चैतन्यस्वरूपपनेसे नित्य उद्योतरूप निर्मल स्पष्ट दर्शनज्ञानरूप ज्योति स्वरूपहै, अनन्तधर्मोंमें रहनेवाले एकधर्मित्वसे

भी पराधीन सुखको कोई नहीं चाहता। कहते है ना! हमारा सो हमारा पराया सो पराया, परायेका विश्वास हो क्या ? जो स्वभाव है वह विश्वासके योग्य है, विभावका विश्वास नहीं विभाव अहित है क्षणिक है क्लेशकारक है। पराश्रयज सुखमें क्या रुचि करना। वास्तवमें तो परसे कोई सुख होता ही नहीं है। दूसरों के सुखसे कोई सुख नहीं है। परकी पर्याय, दूसरोंका सुख उन्हींमें व्यापक रहताहै। गन्नेके रसको चूसकर कोई कहे कि इसमें बडी मिठासका आनंद है तो वह समझ गलत है उस निमित्तको पाकर जो कल्पना बनाई उसके अनुरूप निजसुखके विकारका वह भावहै। नहीं तो मलेरिया ज्वरवालेको गन्नेका रस कडुवा क्यों लगता गन्ना तो मिठासका आनंद देताहै सो सबको समानतया देवे। बात यह है कि सुखरूप कार्य अपने उपादानसे अनुकूल निमित्त पाकर व्यक्त होताहै। सभी सुख आत्मीयपरिणति है। विषय, धनवैभव भोजन परिवार आदि सर्ववस्तुयें मेरे किसी गुणपर्यायरूप नहीं परिणम- सकते। इन्द्रियभोगके कालमें भी अपनी कल्पनासे ही सुख है। सन्ध्याकालमें कोई द्वारपर शान्तचित्त बैठा हुआ हो और कोई मित्र आकर पूछे कि भाई! आनंद तो है तब वह बोलताहै कि खूब आनंद है। यहां

बतावो कि वह न स्पर्शनका विषय कररहा न खारहा न सूंघरहा न देखरहा न राग ही कोइ सुनरहा और न हवाई पुलही बांधरहा फिर आनंद बहुत बतारहा। भया ! जो वह विश्रामसे रागद्वेषको सहनापूर्वक बढ़ा है उसका वह सुख पारहा। अपने भावको देखो अपना वह सुखभण्डार समग्र अपने आप पा ला। यह सुख विषयातीतहै। विषयी लोग अपने भुवनविषयसुखसे तुलना करने जाय और स्वयंबुद्ध आनन्दकी तौल भी करसकें यह हो ही नहीं सकता। नीम खानेवाला गुड़को भावना चाहे तो क्या तौल भी सकताहै ? अधिकसे अधिक उसका दिमाग बढ़ेगा तो यह मान लेगा कि ये तो गुड़ ही गुड़ खातेहोंग। भया यह तो दृष्टान्त मात्र दियाहै। यहीं चक्रोके सुखको सुख नहीं समझ रोता। चक्री भी जब भेदविज्ञानकी अनिर्वचितभावना से सब परिग्रह त्यागि सब विकल्पोंसे शून्य होकर केवल आत्मस्वरूपमें रत रहतेहैं तब उन धर्मात्मावों को भी सत्य आनंद प्राप्त होताहै। यह सब शुद्धोपयोगका प्रसाद है।

शुद्धोपयोगका फल यह सुख जो अनिर्वचनीयहै, आत्म समुत्पन्न है, विषयातीत है अनन्त है, अव्युच्छिन्न है। शुभो ... है कि अशुभोपयोगका

फल महादुःख है। शुद्धोपयोगका फल निर्मल ज्ञान, दर्शन आदिका प्राप्त करना भी है फिरभी यहा सुखको ही एकमात्र उसका फल क्यो बतलाया? इसका उत्तर यह है कि यह जीव अनादिकालसे ही सुख पानेकेलिए छटपटाता चला आरहाहै, पर इसे वह आज तक मिला नहीं है। इसलिए आचार्यने इसी दुखी जीवको शाति पहुचानेकेलिए आत्मीय सुखको ही शुद्धोपयोगके फल रूपसे वर्णन किया। तथा सभीका उद्देश्य सुख ही रहता है, सारे यत्न सुखकेलिए ही है। देखो वह आत्मीय सुख विषयातीत है, अर्थात ससारी जीवोने पाच इन्द्रियोके विषयोमें जो सुखकी कल्पना कर रखीहै, उससे अतीत है, रहित है। जो जीव अनादिकालसे इन्द्रियविषयोके सेवनको ही सुख समझते आरहेहै, वे आत्मीय सुखकी कल्पना ही नहीं कर सकतेहै, कि वह कैसा होगा। जिनके दिमागोमें विषय की दुर्गन्धि भरी हुई है उन्हे आत्माकी सुगन्धि कैसे रुचिकर होसकतीहै? दो सहेलियो की कथा है एक धीवरकी लडकीमें और एक मालिनकी में बडी मित्रता थी। समय पाकर दोनो विवाहित होकर अपनी अपनी ससुराल चली गई। एकबार धीवरकी वह लडकी बाजार करके अपने गाव को लौटरहीथी, रास्तेमें मालिनकी लडकीसे भेंट हो

गई, वे आपसमें बहुत दिनोमें मिलीं थीं, इसलिए मालिनकी लडकीने उसे रोक लिया और कहा कि रात यहीं बिताओ, प्रात काल अपने घर चले जाना। वह धीवरकन्या रुक गई। मालिनकी लडकीने उसका खूब आतिथ्य किया, बढिया भोजन कराये, फिर अच्छी चारपाई पर अच्छे बिछौने बिछाकर उसपर बेला-चमेली, जूह, गुलाब आदिके फूलोकी पखुडिया फनाकर उस पर उस धीवरकन्याको सोनेके लिए कहा। वह उस शय्यापर सोई, परन्तु उसे नींद नही आई, करवट ही बदलतीरही। अन्तमें मालिनकी लडकीसे बोली–बहिन तुमने यह गीला गीलासा क्या बिछा दिया है, इसकी बदबूसे ही मेरा मस्तक फटा जारहाहै, इसे हटाओ। फूल अलग कर दियेगये, फिर भी उसे नींद नहीं आई और बोली इन कपडोमें जो फूलोंकी गन्ध भर गईहै, उससे मुझे शिर दर्द हो रहाहै, इन्हे भी हटाओ। उन्हे भी हटादिया गया। फिर भी उसे नींद न आई, तो सहेलीसे बोली–बहिन, मेरी जो टोकनी रखी हुईहै, उस पर जरा पानी छिडककर लाओ। जब वैसा किया गया, उसे टोकनीमें पानी छिडकनेसे मछलियोकी गन्ध आई, तब उसे नींद आई। यह मत्स्यगन्धाकी कथा हमें यह शिक्षा देती है कि जिनके

अधिक दु खोका सामना करना पडताहै, तो जिनके आधीन अनेक कुटुम्बी हैं, और जिनपर उनकी सार-सभाल और देखभालका भार है, वे कितने दु खी नहीं होगे उन्हे कितने अधिक दु खोका सामना नहीं करना पडेगा । ऐसा समझकर एकाकी रहनेका दु ख न मान कर उसके लाभोको देखकर आत्मकल्याणमें लगना चाहिए । हमारा सुख हमारे ही पास है, परन्तु बहुकुटुम्बीको कुटुम्ब परिवारादिके प्रसन्न करनेकेलिए जो नाना उपाय करने पडतेहैं, उससे वह दु खी बना रहता है, वह सदा यह प्रयत्न करनेमें लगा रहताहै कि सब लोग मुझे अच्छा समझें पर कोई सबको न खुश रख सकताहै, न कोई सबकी दृष्टिमें अच्छा बनसकताहै । एक कथाहै कि कोई बाप बेटे एक घोडा लेकर कहीं जारहेथे । बाप घोडेपर सवार था और लडका पैदल चलरहाथा । किसी गावमें होकर निकले, तो लोगोने कहा--देखो यह कैसा बुरा आदमी है जो स्वय तो घोडेपर सवारहै और बेचारे लडकेको पैदल चलारहा है । यह सुनकर बाप घोडेसे उतरपडा और लडकेको घोडेपर बठादिया । जब वे दूसरे गांवमें होकर निकले तो लोग कहनेलगे--देखो यह लडका कितना बुराहै कि स्वय तो घोडेपर चढाहै और बेचारा बूढा बाप पैदल

चलरहाहै। लोगों की बात सुनकर उन्होने सोचा कि एक-एकके बैठनेपर लोग भला बुरा कहतेह, अत दोनो ही जनें क्यो न घोडेपर बैठ जावें। ऐसा सोचकर वे दोनों उसपर सवार होगये। जब वे तीसरे गावके भीतरसे निकले तो लोग बोले—देखो ये लोग कितने निर्दय ह कि दोनो बेचारे घोडेपर सवार हैं। मालूम होता है कि यह घोडा मागेका है। बाप बेटे लोगोकी यह बात सुनकर घोडेपरसे उतर पडे, और घोडको लगाम हाथमें पकडकर पैदल चलने लगे। जब वे आगे चौथे गाँवमेंसे होकर निकले तो लोग उन्हे देखकर बोले—देखो ये लोग कितने मूख ह कि घोडा साथमें ह और आप दोनो पदल चलरहेहै। वे लोगोकी बातें सुन कर बडे दुखी हुए और कहने लगे देखो—एक गाँववालो के कहनेको किया, तो उसे दूसरे गाँववालोने बुरा बताया, । दूसरे गाव वालों के अनुसार किया, तो उसे तीसरे गाववालोने बुरा बतलाया। और जब उनवेंकहे अनुसार किया, तो उसे चौथे गाववालोंने बुरा बतलाया। दुनियामें सबको राजी रखनेका कोई उपाय नहीं है। जिन्हे जितना बडा परिवार मिलता है, जितनी अधिक देवागनाए मिलती ह, उन्ह सबको प्रसन्न रखने की उतनी ही अधिक आकुलता रहती है।

यह वैषयिक सुख सात है और हमारा क्षायोपशमिक ज्ञानभी सातहै। यही कारण है कि मन्दिरमें इतनी वीतराग चर्चा सुननेके बाद भी जहा लोग मन्दिरसे घर जातेह और घरमें प्रवेश करतेह कि यहा की सभी चर्चा दिलसे उडजातीहै और घरकी बातें दिमागमें भर जातीह। परिवारकी गन्दगी और बुराइको दूर करने के लिए दो बातोकी आवश्यक्ता है–सतसगतिकी और शिक्षा की। यदि आपका कुटुम्ब कुसगसे दूर है और शिक्षित है, तो घरका वातारण भी पवित्र बना रहता है और वहा धार्मिक सस्कार फलते फूलते ह। इसलिए कुटुम्बको धार्मिक बनानेकेलिए उक्त दोनों बातोंपर पूरा ध्यान देना चाहिए। अन्यथा धम चर्चाके बिना वपयिक चर्चासे आत्माकी हानि ही हानि है। वैषयिक सुख सुख नही, दु खही हे, क्योकि वह उत्तरोत्तर तृष्णा और आकुलताका ही कारणहै। जरा एक स्त्री सुखका ही विचार करलें–जब मनुष्यके पुरुषवेदका तीव्र उदय या उदीरणा होतीहै, तब वह स्त्रीसेवनकेलिए विवश होताहै, तो पहला दु ख तो यही हुआ। फिर स्त्रीके साथ सम्भोग कर अपनी शारीरिक शक्तिको नष्ट कर जि दाही मुर्दा जसा शिथिल होजाताहै, यह दूसरा दु खहै और यदि इससे कोइ रोगादि लग गया तो दु खोका

फिर कोई पारावार ही नहीं है। फिर यदि गभ रह गया तो स्त्रीका रूप बिगडजाता, जब गर्भ बढा तो शोक चितायें अनक घेरलेतीह, उसके तो यही जाप वनजाताहै कि सुखसे प्रसव हो जावे। क्योकि इससमय तो कितनी ही मातायें व शिशु प्राणा त होजातेह। वालक हुआ तो मलमूत्र ढोनेका दु ख सहतेह बडा हुआ तो हठपूर्तिका दु ख सहतेह, फिर पढाइका खच, डाट डपट अनेक दु ख सहतेह, पुत्रविवाह होनेपर उसकी माता पितासे दृष्टि कम होजातीहै और उसने धन कर्जेमें किया तो निधनताजन्य दु ख सहने पडते ह। देखो भैया एक स्त्री परिग्रहके स्वीकार करनेमें ही कितनी दु खमय अवस्था आती है और ये तो स्थूल रूपसे कुछ दु ख कहे, दु ख तो निरतर बनारहताहै जिसके मूलमें दु ख, मध्यमें दु ख और अ तमें दु खहै वह भला सुख कैसे माना जासकताहै? आकुलता उत्पन्न हुए बिना विषयोंमें, प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिए विषय सुख केवल दु खके प्रतीकाररूप हो ह, उन्हें सुख नहीं माना जासकता। पर शुद्धोपयोगजनित सुख स्वतन्त्र है, स्वाधीन है, अनैमित्तिक है अतएव अविनाशी है। जो वस्तु किसी निमित्तसे प्राप्त होतीहै, उसका सयोग सदा नही रहता। आत्मा की जो पर्यायें कर्मके क्षयोपशादि

से उत्पन्न होतीहै, वे भी विनाशीक होतीहै। पर कर्मक्षय-जनित दशाए स्थायी होती है। कर्मोंके क्षयमे उत्पन्न होनेवाले ज्ञान और सुख अनमित्तिक ही है, इसलिए वे स्थायी रहतेहैं, अनन्तकालतक बने रहते है। प्रश्न–केवलज्ञानादिके उत्पन्न होनेमें ज्ञानावरणादि कर्मोंका क्षय तो निमित्त है, फिर उन्हें अनमित्तिक कैसे कहा ? उत्तर– हा केवलज्ञानादिके उत्पन्न होनके क्षणमें तो ज्ञानावरणादि कर्मोंके क्षयका निमित्त है, पर आगे उनसे स्थायी अनन्तकालतक रहनेमें कोई निमित्त कारण नहीं है, इसलिए उन्हें अनमित्तिक कहा है। कालद्रव्य तो साधारण निमित्त है सवत्रहै उसकी विवक्षा नहीं, शुद्धोपयोगियोका सुख अनमित्तिक होनेसेही अनन्तकालतक रहता है। शुद्धोपयोग होनेपर अनन्त दुखोका अभाव होकर सहज सुख प्रकट होता है अत भी अनन्त है। शुद्धोपयोगियोका यह सुख अव्युच्छिन्न है, उसका कभी विच्छेद नहीं होता। निरन्तयरूपसे प्रवतमान रहताहै। क्योकि उसका कारण भूत शुद्धभावका उपयोग है। प्रश्न—अनन्त और अव्युच्छिन्नमें क्या अन्तर है ? उत्तर–जो आगामी कालमें सदा बनारहे, जिसका कभी अन्त न आवे, उसे अनन्त कहते हैं। और जिसका

प्रवाह निरंतर एकसा प्रवाहित रहे, बीच बीचमें हीनाधिक न हो असाताका उदय न आवे, प्रवाहमें विच्छेद न पड़े, उसे अव्युच्छिन्न कहतेह, यह दोनोमें अंतर है। दोनोका सम्मिलित अर्थ है कि वह आत्मसुख निरन्तर सदा बना रहताहै। शुद्धोपयोगियोका सुख अव्युच्छिन्न भी है और अनंत भी है। सम्यक्त्वका द्रव्यदृष्टिरूप पाथेय मागम सदा सहायक बना रहताहै। यदि हम बाहर कहीं जाव और मार्गमें खानेकेलिए कलेवा (मार्ग का भोजन) साथ है, तो कहीं कोई अकुलता पैदा नहीं होती। इसी प्रकार यदि सम्यक्त्व साथमें है, तो उसके कभी कहीं कोई आकुलता उत्पन्न नहीं होती। पर निजमें लीन हुए बिना 'स्व' का ज्ञान कैसे होगा? जलके छुए बिना तैरना नहीं आसक्ता। कोई चाहे कि मुझे पानीमें तो घुसना ही न पड़े और कोई बाहर खड़े खड़े ही तरना सिखादे तो क्या यह सम्भवहै? नहीं। तरनेकी शिक्षा देनेवाला बाहर रहकर कितना ही पढावें कि देखो पानीमें घुसकर ऐसे हाथ चलाना चाहिए ऐसे पर चलाना चाहिए फिरभी उसे तैरना नहीं आसक्ता। मास्टरसे तरनेकी कोरी विद्या कितनी ही सीखले, पर यदि तब कहीं नदी-तालाबसे गहरे पानीमें कूदेगा तो नियमसे डूब जायगा। तैरना सीखनेकेलिए

जो अंतरंगमें विशुद्धिके प्रकर्षसे पूजा होतीहै, वह भावपूजा कहलाती है।

शुद्धोपयोगियोका वह सुख विषयातीत है, अर्थात् निर्विषयक परमात्मतत्वके प्रतिपक्षभूत जो पांचइन्द्रियांहै उनके जो स्पर्श,रस,गंध, वर्ण, शब्द स्वरूप विषयहैं, उनसे रहित है। पंचेन्द्रियज विषयसुख परद्रव्यमें रति माननेवालोंको ही प्रिय लगताहै, पर जो आत्मतत्त्वमें निरत है, उन्हें वह दिव्य सुख प्रगट होता है, जिसके सामने संसारके सब सुख फीके पडजातेहैं और तुच्छ प्रतीत होने लगतेहैं। तथा वह शुद्धोपयोगियोंका सुख अनुपम है, क्योंकि उस निरुपम परमानंदैकलक्षण सुखको जिसकी उपमा दीजाय, ऐसा एक भी पदार्थ संसारमें नहीं है, वह संसारसे ऊंचे से ऊंचे सुखसे भी अनंत गुणित विशुद्ध परम आल्हाद स्वरूप है, अतएव उसे अनुपम कहागया है। तथा वह शुद्धोपयोगियोंका सुख अनन्त है, क्योंकि वह प्रतिपक्षी चारित्रमोहकर्मके अभावसे सर्वथा क्षयसे उत्पन्न हुआ है, अतएव अब आगे कभी भी उसका विनाश नहीं होगा अतः वह अनंत है अथवा किसी भी ज्ञानसे उसको पाया नहीं जासकता, अपरिमेय है, इसलिए भी उसे अनंत कहतेहैं। तथा वह सुख अव्युच्छिन्न है। बीच बीचमें विच्छेद या अंतराल

पडनेको विच्छिन्न या व्युच्छिन्न कहते हैं। जब तक संसारावस्था रहतीहै, तब तक उनका सुख बीच बीचमें असाता कर्मका उदय आजानेसे व्युच्छिन्न होता रहता है। परन्तु जिनके शुद्धोपयोग प्रगट होजाताहै, उनके वेदनीय कर्मके निमित्तसे साता-असाता कर्मके उदयसे होनेवाला सान्तर या सविच्छेद सुख दूर होजाताहै और धाराप्रवाह-प्रवाहित अनन्त सुख प्राप्त होजाताहै, अतः उसे अव्युच्छिन्न कहाहै। इस प्रकार वीतराग परम सामायिक शब्द वाच्य शुद्धोपयोगका फल बताया गया।

अथ शुद्धोपयोगपरिणतात्मस्वरूपं निरूपयति-- अब शुद्धोपयोगमें परिणत आत्माके स्वरूपको भले प्रकारसे देखतेहैं, अर्थात् कहतेहैं। संस्कृत भाषामें जितनी भी धातुएं हैं और उनका साधारणतः जो अर्थ होताहै, वह उपसर्गोंके योगसे विभिन्न एवं विशिष्ट होजाताहै। रूप धातुका अर्थ देखनाहै, निःशेषेण रूपयति निरूपयति इस निरुक्तिके अनुसार अर्थ होताहै कि निःशेषरूपसे देखतेहैं, अर्थात् चारों ओरके उसे ठोक बजाकर, उसकी परीक्षाकर उसके स्वरूपका प्रतिपादन करतेहैं। साधारणतः 'निरूपयति, प्ररूपयति, कथयति, अभिष्टौति' आदि क्रियापदोंका अर्थ 'कहतेहैं' इतना ही होताहै, तथापि विभिन्न उपसर्गोंके योगसे उस कहनेमें कुछ

विशिष्टता होती है, या क्या कहना अभीष्ट है, ऐसा ग्रंथकारका भाव भी उसमें सन्निहित रहताहै जिस शुद्धोपयोगका फल अत्यन्त सुखमय है, उस शुद्धोपयोगमें परिणत आत्माको देखू तो कसे है इस उत्सुकतासे उसे देखतेह ऐसा जो आचार्यने कहा, सो यह स्वभावोचित है। लोक व्यवहारमें भी ऐसाही कहाजाताहै कि कौन मधुर गायन कररहाहै उसे हम देखतेह। लोग जिन राष्ट्रीय नेताओंके बडे बडे काम देखते सुनतेह, उनके भी देखनेकी इच्छा होतीहै, चलो देखें तो सही कि अमुक कैसेह। इसी प्रकार ग्रंथकार भी कहतेह, कि ऊपर जिन अनेक विशेषण विशिष्ट शुद्धोपयोगियोके सुखका वर्णन कियागया, उन शुद्धोपयोगियोको तो देखें कि वे कसे ह? इस प्रकार कितना ही रहस्य हृदयमें रखकरके आचार्य आगके गाथासूत्रको कहतेह —

सुविदिदपदत्थसुत्तो सजमतवसजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगोत्ति ॥१४॥

अर्थ—जिसने जीवादि पदार्थोको और उनके प्रतिपादक आगम सूत्रको सु कहिए अच्छीतरह सशय, विपर्यासादिसे रहित भले प्रकार जानलिया है, जो सयम और तप सयुक्त है, विगतराग है और सुख दुखमें समान है, ऐसा श्रमण शुद्धोपयोग कहागया है ॥१४॥

यहा शुद्धोपयोगी श्रमणके जितने विशेषण दियेगये हैं उनमें परस्पर काय कारण भाव है अर्थात् पूव पूव विशेषण कारणरूप है और उत्तर उत्तर विशेषण उसका कायरूपहै। जो जीवादि पदार्थोंको और आगम सूत्रको भले प्रकार जानलेगा, वही सयम और तपसे सयुक्त होसकताहै, अन्य नहीं। जो वास्तविक सयम और तपसे सयुक्त होगा, वही विगतराग होसकताहै, अर्थात् राग-द्व पसे रहित वीतरागी बनसकता है। जो विगतराग होजायगा, वही श्रमण सुख-दुखमें समान रह सकता है और जो सुख दुखमें समान रहे वही समण-श्रमण या समस्वभावी साधु शुद्धोपयोगको प्राप्त करताहै, अथवा इसे इस प्रकारसे भी कहसकतेह कि जो उक्त विशेषण-युक्त श्रमण है, उसकी जो आत्मपरिणति है, वही शुद्धोपयोग कहलाताहै।

शुद्धोपयोगीश्रमणका प्रथम विशेषण 'सुविदितपदाथ-सूत्र' है। आगम सूत्रके अर्थके ज्ञानके बलसे स्वपर-द्रव्यका भेदज्ञानी बनताहै। जब तक वह सूत्राथका ज्ञाता नहीं बनेगा, तब तक साधु बनना वेक रहे। सुकौशलके पिता कीर्त्तिधर राजाको देखो, यदि उन्होंने तत्त्वाथको नहीं जाना होता, तो क्या ससारसे विरक्त हो सकतेथे और नव जात शिशु और जवान पत्नीको छोडकर

साधु बनसकतेथे? कभी नहीं। यदि उन्हे स्वपरविवेक जागृत न होता तो क्या वे राजमहलसे धक्के देकर निकाले जानेपर भी सयम और तपमें स्थिर रह सकतेथ ? कभी नहीं। यदि अजनाको यह विवेक हृदयमें प्रगट न होता, तो घरसे निकाली जानेपर बनमें जब उसे मुनिराजके दर्शन हुए और उसके जसी भक्ति उमडी वह क्या कभी सभव थी? नही। अनेको साधु कोल्हूमें पेल दिय गये, अनेको जीवित जलादिये गये, उन्हे यदि स्व-परका विवेक न होता, तो क्या वे अपने सयम तप में स्थिर रह सकतेथे? कभी नहीं। इससे यही निष्कर्ष निकलताहै कि सयम और तपको धारण करनेके पूर्व स्वपरका विवेक प्रगट होना आवश्यक है और उसकी प्राप्ति जीवादि पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको और आगम-सूत्रको भले प्रकार जाने बिना हो नहीं सकती, इसलिए सर्वप्रथम साधु बननेवालेकेलिए पदार्थोंका और आगमका अच्छी तरह अभ्यास करना चाहिए। साधु बननेकी यही पहलो सीढी है। ज्ञान वही ठीक माना-गया है, जो स्व-पर द्रव्यका भेद ज्ञान कराये। डूबते पुरुषको पानीमें जो चीज दिखती है, वह उसीको पकड लेता है, उसीको सहारा मानता है इसी प्रकार ससार सागरमें डूबने वाले मनुष्यको स्त्री पुत्र धन प्रतिष्ठा

आदि जो भी प्राप्त होता है उसीको पकडकर आर्त रौद्र ध्यान करके ससारमें डूब जाता है परन्तु ससार सागरसे तिरनेकी कला जाननेवाला व स्वभावरूपी निस्तरग किनारा देख चुकने वाला जानताहै कि भेद-ज्ञानका पाना ही सबसे बडा सहारा है, उस सहारेके बिना मोही ससार सागरमें गोता ही लगाता रहेगा।

ज्ञानीकी परिणति अपने बाह्य वेशपर नही रहती, उसकी दृष्टि सदा ज्ञायक भावपर ही रहतीहै, तथापि वह ब्रह्मचारी आदि है, तो उसके बाह्य आचरणमें कोई कमी नहीं होगी फिर भी दृष्टि पर्यायपर नहीं होगी यदि वह क्षुल्लक या साधु है, तोभी उसकी दृष्टि अपने क्षुल्लक या साधुपनपर नहीं होगी, फिर भी उसके क्षुल्लक या साधु सम्बन्धी किसी भी आचरणमें कोई कमी नहीं आयगी, बाह्य आचरण अतरग शुद्ध परिणतिके अनुसार स्वय शुद्ध होता हुआ चला जाताहै। इसका कारण यह है कि उसका लक्ष्य बहुत ऊचा है। जिसका जितना ऊचा लक्ष्य रहेगा, उसकी, उसकी बाहरी परिणति उतनी ही अच्छी होगी। स्व परद्रव्य के जाननेमें यही तो विशेषता है, खासियत है।

एक सेठजी बहुत धनी थे, जब मरनेलगे तो उनके लडकेकी उम्र तीन वर्षकी थी और कोई आदमी

घरको सभालने वाला था नहीं, अतएव वे पाच पचो को ट्रष्टी बनाकर उन्हे बच्चेको सौपकर स्वर्गवासी होगये। ट्रष्टी लोग सेठजीके कारोबारको सभालने लगे और वह बच्चा अपनी माके पास रहने लगा। एक दिन वह अपने मकानके आगे खेलरहाथा, कि एक नट-नटनी उधरसे निकले, उनके, कोई सतान नहीं थी, इस सुन्दर बालकको देखकर मुग्ध होगये, और उसे उठाकर अपने साथ लेगये। वे उसे बडे प्यारसे पोषण करने लगे। बच्चा कुछ दिनोमें अपने घर बारको बिलकुल भूल गया और नट नटिनीको ही अपने मा बाप समझनेलगा। उनकी जायदादको ही अपनी जायदाद समझनेलगा और नटोंके कार्योंको सीखने लगा। एक दिन वह अपनी नटकला दिखाने केलिए सयोगवश अपनेही नगरमें गया। एक ट्रष्टीने जो उसे देखा तो पहिचान लिया कि यह तो सेठका लडका है, जो कि कुछ वष पूर्व इकाइक गायब होगयाथा। उसके पास जाकर कहा, भाई तुमतो इसी नगरके अमुकसेठ के लडके हो, तुम्हारी यहा बडी भारी जायदाद है तुम कहा नटोंके खेल दिखाते फिररहेहो। वह सुनकर कहता है, यह बिलकुल झूठ है, मुझे बहकाना चाहते हो। ऐसा कहकर अपने खेल दिखाता

हुआ आगे चलताहै, तो वहा दूसरा दृष्टी मिलता है और पहले दृष्टोकी बातको दुहराताहै। उसे विश्वास नहीं आता और पहले जसा हो उत्तर देकर आगे चल देता है। वहा तीसरा, दृष्टी मिलताहै, और उसे देखकर पहले दृष्टीवाली बात दुहराताहै। उसेभी वही उत्तर देकर आगे बढताहै और चोथे दृष्टीसे वही बात होती है, वहा से भी आगे बढ़नेपर पाचवे दृष्टी से भेंट होती है और वहभी वही बात कहताहै। लगातार पाच व्यक्तियोंसे विभिन्न स्थलोपर सुनी बातपर वह विचार करताहै कि ये लोग यदि बहका ही रहे होगे- तोभी देनेकी ही बात कहतेह, लेनेकी नहीं, अत एक वारतो इनकी बात मानही लू, ये क्या कहतेह। जाकर उस, सरपचसे कहा आपका कहना ठीक है, म अबकी बार आऊ गा और अपनी जायदाद सभाल लू गा, अभी तो मुझे जाने दोजिए। लौटकर जब वह घर पहुचा, तो माके परोसे चिपटकर और रोकर पूछने लगा– कि मा बताओ मेरे असली मा बाप कौन ह। नटनीको दया आगई और यह सोच कर कि अबतो यह हमारे पाससे जा ही नहीं सकताहे, सब घटना सच्ची सच्ची कहदी। यथार्थ बातको जान- कर अपनेको करोडपति मानकर और सेठका पुत्रभी

घरमें ही स्त्री-पुत्रादि अनेक आलम्बन मौजूद हैं जिनके आधारसे सत्यस्वरूप सोच सोच भेदज्ञान प्राप्त किया जासकताहै। यदि एक बार भी भेद ज्ञान प्राप्त कर लिया तो २-३ भवमें ही बेड़ा पार होजायेगा। मोटर रोकनेके धक्को न पकड़ कर-उसके पहियेको पकड़नेसे मोटर नहीं रुकेगी, इसी प्रकार मोह दूर करनेका उपाय भेदविज्ञान प्राप्त कराहै तो उसे न पकड़कर अत, तपादिरूप पहियेको पकड़नेसे मोह चक्रका परिभ्रमण न रुक सकेगा अत उसे प्राप्त करनेका प्रयत्न करो। उसकी दृष्टि ही प्राप्ति का उपाय है।

शुद्धात्माओंका स्वरूप देखते हुए शुद्धोपयोगका निरूपण किया जारहाहै। यह निरूपण ही नहीं, बल्कि धार्मिक आदेश है। जो बड़े आदमी होतेहैं, वे बड़े कोमल और प्रिय शब्दोंमें आदेश देतेहैं। कि किसी का जीव दुःख न पावे। पर हम इसे समझते नहीं हैं। शुद्धोपयोगी श्रमणको जो विशेषण दिये गयेहैं वे प्रथम विशेषण 'सुविदितपदार्थसूत्र' का अर्थ कहा जाचुकाहै, अब दूसरे विशेषणका अर्थ किया जाताहै। यह शुद्धोपयोगी श्रमण सयम और तपसे सयुक्त होताहै। सम् अर्थात सम्यक् प्रकारसे शुद्ध स्वरूपमें यम माने जमना, स्थिर होना सो सयम कहलाताहै। सयमके

दो भेदहै— प्राणिसंयम और इन्द्रिय संयम । पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक इन छह कायिक जीवो की हिंसाके विकल्पसे दूर होकर शुद्ध रूपमें अवस्थित होनेको प्राणिसंयम कहतेहै । प्राणिसंयमका यह कितना सुंदर अर्थहै कि छठे गुणस्थानसे लेकर ऊपरके सर्व गुणस्थानोंमें घटित होताहै । यदि कोई ध्यानस्थहै, उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी पर उपस्थितहै, तो उन में भी उक्त लक्षण घटित होजाताहै, क्योंकि वे सभी जीव हिंसाके विकल्पासे रहितहै । पचेन्द्रियोके विषयो की अभिलाषाके विकल्पसे दूर होकर शुद्ध स्वरूपमें जम जानेको इन्द्रिय संयम कहतेहै । इन्द्रिय संयमका यह लक्षण भी सभी संयमियोके भीतर घटित होताहै । साधारणत लोग छह कायके जीवोकी रक्षा करनेको प्राणिसंयम कहतेहै । पर यह लक्षण केवल छठे गुणस्थान वर्त्ती साधुके ही घटित होगा, ध्यानस्थ साधुओंके लिये नहीं, क्योंकि उस समय तो वे किसी जीवकी रक्षा नही कररहेहै । व्यवहारमें किसीके द्वारा पीडित प्राणीकी जान बचानेको जीव रक्षा कहाजाताहै । सो यह लक्षण ध्यानस्थ शुद्धोपयोगियोंके नहीं घटित होता है । अतएव अध्यात्मशास्त्रमें किया गया उक्त लक्षण

निर्दोष एवं सम्पूर्ण समझना चाहिये। यही बात इंद्रिय संयमके बारेमें है— लोग समझते हैं कि मैं अमुक चीज नहीं खाऊंगा, यह इन्द्रिय संयम है, पर उनका यह कथन भी भ्रममूलक है क्योंकि वह संयममें घटित नहीं होता। ऊपर जो लक्षण किये गये हैं, वे ही यथार्थ लक्षण हैं, क्योंकि वे सब संयमियोंमें घटित होते हैं। संयम वह चीज है कि जिसकी प्राप्ति होते ही जिसमें संयम होते ही विकल्प स्वयं दूर होजाते हैं और जो वस्तु हमें प्राप्त करना चाहिए, वह स्वयं प्राप्त हो जाती है।

जबतक उपर्युक्त शुद्ध दशा प्रकट नहीं होती, तब तक आचार्योंने निम्नदशामें 'असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं' यह चारित्रका लक्षण कहा है। अर्थात् अशुभ कार्योंसे विनिवृत्त होना और शुभ कार्योंमें प्रवृत्ति करना चारित्र कहलाता है। यहां अशुभ निवृत्तिका तथ्य मतलब हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रहरूप पाप कार्योंसे निवृत्त होनेका है। छह कायके जीवोंके घात करनेके परिणाम उत्पन्न होनेको हिंसा कहते हैं। त्रैलोक्यके सब प्राणी छह कायमें आजाते हैं। पृथिवी ही जिनका शरीर हो, ऐसे जीवोंको पृथिवीका-कायिक कहते हैं। जमीन, पाषाण, हीरा, पन्ना, माणिक

आदि तथा खानिसे निकलने वाली, गेरू हिरमजी मुलतानी मिट्टी आदि पदार्थ जब तक खानिके भीतर रहतेह, या अपने उत्पत्तिस्थानसे अलग नहीं होतेह, तब तक उनमें जीव रहताहै और वे पृथिवीकायिक कहलाते है। पृथिवीकायिक जीवोंके ३६ भेद बतायेगये ह, जो कि इस प्रकारह – मिट्टी, बालु, रेती, पत्थर, शिला, ननक, लोहा, ताबा, जस्त, सीसा सोना, चादी, हीरा, हरताल, हिंगल, मनसिल, अजन सुरमा, मूगा, अभ्रक, किरोलक, गोमेद रत्नकाडू स्फटिक, लोहिताक्ष, वडूय, चन्द्रकान्तमणि, जल कान्तमणि, सूर्यकान्तमणि, गरु आदि। य सब यत पृथिवीसे ही उत्पन्न होतेह, अत उन्हें पृथिवी कायिक मानाहै। ये जबतक खानिमें या अपने उत्पत्ति स्थानमें रहतेह, जबतक वे बढते रहतेह जीव हैं, और जब ये बाहर निकाल लिये जातह तब व जीव रहित होजातेह, जलही जिनका शरीरहा, एसे जीवोंको जल कायिक जीव कहतेह, । नदी, कुआ वारहके पानीको जल कहतेहै । ओस बिन्दु, हिमबिन्दु, बर्फ, ओला काकडा आदि अनक जातिके जलकायिक जीव होतेहे। आगही जिनका शरीरहो, उन्हें अग्नि कायिक जीव कहतेहै । ज्वाला लकडीकी अग्नि,

कंडेकी अग्नि, बिजलीकी अग्नि, कोयलेकी अग्नि, उल्का, गाज आदिके रूपसे अग्नि कायिक जीवोके भी अनेक भेद होतेहै । रात्रिमें जो हम तारे टूटते हुए देखते है, वह भी एक जातिकी अग्निही है किसी तारा, नक्षत्र आदिका कोई टूटा हुआ अश नहीं है। वर्षा ऋतुमें जो रातमें बिजली चमकतीहै, वहभी एक जातिकी अग्नि है । हवा, पवन हो जिसका शरीरहै ऐसे जीवोको वायु कायिक जीव कहते है । उसके घनवात घनोदाधिवात तनुवात गुञ्जावात (गूजने वाली या जोरसे चलने वाली हवा) मण्डलियात(मडलाकार घूमने वाली हवा) उत्कलिकावात (नीचेसे ऊपर को उडने वाली हवा) आदि अनेक भेद है ।

बनस्पति हो जिसका शरीर हो, ऐसे जीवोंको वनस्पतिकायिक जीव कहतेहै । वनस्पतिके दो भेद है – साधारण और प्रत्येक वनस्पति जिन एकेन्द्रिय अनन्त जीवोका एक साथ जन्म हो एक साथ मरण हो एक साथ श्वासोच्छवासलें और एक साथ आहार ग्रहण करें, ऐसे निगोदिया जीवोको साधारण वनस्पति कहतेहै । साधारण बनस्पतिके दो भेद है सूक्ष्मनिगोद और बादर निगोद । बादर निगोद तो किसीके आधार से रहतीहै, पर सूक्ष्म निगोद किसी भी आधारमे नही

रहतीहै वह त्रलोक्यमें सर्वत्र ठसाठस भरी हुई है। जिस एक वनस्पति शरीरका स्वामी एक जीव हो, उसे प्रत्येक वनस्पति कहते है । उसके भी दो भेदहै — सप्रतिष्ठित प्रत्येक ग्रोर ग्रप्रतिष्ठित प्रत्येक । जिस प्रत्येक बनस्पतिके ग्राधार अनेक साधारणवादर वनस्पति कायिक (वादरनिगोद) जोव रहे उसे सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहतेहै जसे जमींकन्द ग्रालू, रतालू लहसन, प्याज, ग्ररवी, ग्रदरक हल्दी कच्ची समभग टूटने वाली तोरई ककडी पालग ग्रादि। जिस वनस्पतिके ग्राश्रय बादरनिगोदिया साधारण वनस्पति कायिक जीव न रहें उसे ग्रप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहतेहैं जैसे ग्राम इमली नीम, बबूल ग्रादि के वृक्ष । इन वक्षोके भी जड, छाल, कोंपल ग्रादि जिस ग्रगका सम भग होजाय उसके भी ग्राश्रित बादरनिगोद रहती है । पर उसकी विवक्षा न करके बहुभागके बादरनिगोद विहोन रहनेसे नीम बबूल ग्रादिके वृक्षोको ग्रप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहदिया जाता है वस्तुत जो ग्रश निगोदसहित है वह सप्रतिष्ठित है। ग्राम ग्रादि फल भी ग्रप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति हैं ।

त्रस जीव साधारणत चलने-फिरने वाले द्वीन्द्रियादि जीवोंको कहतेहैं । त्रसजीव चार प्रकारके होते

ह–द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीव। जिनके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रिया पाई जायें उन्हें द्वीन्द्रिय जीव कहतेह। जसे लट, केंचुआ, जोक, शख, कौडी आदि। जिनके स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियां पाईजायें, उन्हे त्रीन्द्रिय जीव कहतेहैं। जैसे चींटी, चींटा, खटमल, बिच्छू, जू वगरह। स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियां जिनके पाई-जायें उन्हे चतुरिन्द्रिय जीव कहतेहैं। जसे भौंरा, वर्र, मक्खी, मच्छर, टीडी वगैरह। जिनके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पाचों इन्द्रिया पाईजावें, उन्हें पचेन्द्रिय जीव कहतेह। जैसे देव, मनुष्य नारकी और गाय, बैल वगैरह। पचेन्द्रियोमें देव, मनुष्य और नरक गतिके जीव तो सज्ञी अर्थात् मन सहित ही होतेहैं, किन्तु तिर्यंचगतिके जीव सज्ञी और असज्ञी अर्थात् मनसहित व मन-रहित दोनों प्रकार के होतेहैं, साप सनी होते हैं, पर जलमें रहने वालोमें से कोई कोई असनी होते हैं। मछलियो और मेंढकों में भी कोई कोई असैनी होतेहैं। तोतोमें भी कोई कोई असैनी होता है।

हम लोग वर्षोंसे शास्त्र सुनते आरहेहैं, और अनेक बार उक्त पाचों इन्द्रियोंके जीवोंकी चर्चा भी सुनी

मगर अनेंकोको अभी तक भी इन जीवोका भेद ज्ञात नहीं है, एक किवदन्ती की वात है कि एक साधु शास्त्र पढ रहेये और पाचो जातिके जीवोका वणन कररहेथे। जब वे शास्त्र पढचुके, तब उन्होंने एक श्रोतासे पूछा कि पचेंद्रिय जीव कौन है ? तो उसने झट उत्तर दिया कि हाथी, क्योकि उसके चार पाव और एक मू ड ये पाच इन्द्रिया होतीह। जब फिर उससे पूछा गया कि चौइन्द्री जीव कौन है, तो बोला कि बैल, घोडा आदि, क्योकि उनके चार पैर होतेह। जब तीन इन्द्री जीवको पूछा गया, तो तीन पायेवाली तिपाईको बताया। दोइन्द्री जीवके बाबत पूछनेपर बोला कि हम दोइन्द्रिय जीव ह, क्योकि एक इन्द्रिय हमारी हमह और एक इन्द्रिय हमारी स्त्री है। हम घरमें दो ही आदमी ह इसलिये हम दोइन्द्रिय ह। अब एकेन्द्रीके बाबत पूछा गया तो बोला–महाराज आप एकेन्द्री जीव है, क्योकि आपके स्त्री नहीं है, अकेले ही हैं। उसक इन उत्तरोको सुनकर अनेक श्रोता हसपडे। यह किस्सा तो अन्यत्रका है, पर यदि हम यहा भी ऐसाही कोई प्रश्न कर बैठें–तो सभव है कुछ अनेकोंको उत्तर देना कठिन हो जायगा। भाइया यह पर्याय अन्य पर्यायोकी अपेक्षा बहुत दुलभ है, इस बातका भी ज्ञान यदि हमें

नहीं हुआ, तो इससे बढ़कर और दु:खकी क्या बात हो सक्ती है ? हम लोग निगोदसे निकलकर, पृथिवी आदि एकेन्द्रिय पंच स्थावरोंमें पैदा हुए, फिर विकास करते हुए द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिन्द्रियोंमें उत्पन्न होकर पंचेंद्रियोंमें उत्पन्न हुए, उत्तम मन भी पाया, मनुष्य भी हुए, उच्च कुल नीरोगता जनधर्म आदि उत्तरोत्तर अतिदुर्लभ भी चीजें पाईं, फिर भी हमें यदि स्वका बोध नहीं हुआ, अबभी नहीं चेते, तो फिर क्या होगा ? मनुष्य भव पानेका अवसर बारबार नहीं आता। इसलिए हमें इसके एक एक क्षणकी कीमत करना चाहिए और जितने जल्दी हो अपने हितमें लगना चाहिए। निज चैतन्य भगवानके आशीर्वादसे हम नीचेसे उठकर ऊपर चढ़े हैं, अब यदि हम इस पर– जिसकी कृपासे इतने ऊंचे पदको प्राप्त किया है, हमला कर बैठें, तो फिर यह निगोद जानेका आशीर्वाद देदेगा। जहां से आये वहीं पहुंचा देगा।

एक साधुकी कथा है कि एक चूहा उनकी लंगोटी को काट जाया करे, उन्होंने तंग आकर एक पिंजरेमें पाल लिया और रोटी खानेको देनेलगे। धीरे–धीरे वह पालतू होगया और कपडा काटना छोड दिया। वह साधुके आस पास खेलने लगा। एक दिन बिल्ली

उस चूहेको खाने के लिये झपटी, तो वह साधुकी ओर भागा, साधुने उसे बचानेकेलिए आशीर्वाद दिया कि 'विडालो-भव' अर्थात् बिल्ली हो जा। वह बिल्ली बन गया उसे बिल्लीका भय नहीं रहा। एक दिन एक कुत्ता कहींसे आ निकला और उस बिल्लीपर झपटा, उसके बचानेकेलिए साधुने आशीर्वाद दिया कि 'श्वा भव' अर्थात् कुत्ता होजा, और वह कुत्ता होगया, दूसरे कुत्ते का डर जाता रहा। एक दिन यह कहीं जगलमें जा रहा था कि एक व्याघ्र उसपर झपटा और वह भागा हुआ साधुके पास आया। उनने उसको आशी-र्वाद दिया कि 'व्याघ्रो भव' व्याघ्र होजा, वह नाहर होगया और नाहरका भय जाता रहा। एक दिन वह जगलमें घूम रहा था कि एक सिंह उधर आ निकला और उसपर झपटा। वह साधुके पास भागा आया। साधुने उसे आशीर्वाद दिया कि 'सिंहो भव' वह सिंह बनगया और निर्भय विचरने लगा। एक दिन उसकी नीयत साधुको खानेकी होगई क्योकि भूख बडे जोरसे लगरही थी वह ज्योंही साधुको खानेकेलिए झपटा कि साधु उसका भाव ताड गये और फौरन आशीर्वाद दिया कि 'पुनर्मूषको भव' अर्थात फिर चूहा होजा। साधुका आशीर्वाद पाते ही फौरन चूहा का चूहा होगया

और सारी आशाओंपर पानी फिरगया। भैया जिस चेतन भावकी कृपासे इस उच्च पर्यायको पाया है, उसे पाकर और रागदि विकारामें पडकर चेतन भगवानके ही घातका विचार मतकरो, अन्यथा फिर हमें निगोदमें जाना पडेगा। निज चैतन्य गुरुपर हमलाका भाव रखनेपर इसका यही आशीर्वाद हो पडेगा कि पुनर्निगोदो भव अर्थात फिर निगोद बन जा।

म प्राणीको मारू, या मार सकताहू यह विकल्प, जसे मिथ्यात्व है, उसी प्रकार म इसकी रक्षा करू, या रक्षा करसकताहू यह विकल्प भी मिथ्यात्व है। इसी लिए आचायने 'प्राणीकी रक्षा करना सयम है' ऐसा लक्षण न करके मारने या रक्षा करने आदिके सव विकल्पोसे दूर होकर शुद्ध आत्मस्वरूपमें ठहरनेको सयम कहाहै। शुद्धोपयोगीकी आत्मा कसी है, इस प्रकरणमें उक्त बात कही है। वार-वार शुद्धोपयोग की चर्चा करनेसे हमारे भीतर भी शुद्धोपयोगकी परिणति जागृतहोनेको होती है। जैसे निरन्तर सगीत सुननेवाले श्रोताओके भीतर सगीतका रहस्य अकित होजाताहै और वे सगीतके समय अपने अगोपाग मटकाने लगते हैं, उसी प्रकार गुणीजनोकी निरन्तर कथा सुनते रहने से हममें गुणभी पैदा होने लगते हैं। इसी प्रकार

शुद्धोपयोगीके स्वरूपके ध्यानसे अनुपम प्रमोद होताहै ऐसे ही शुद्धलक्षी चित्तक शुभोपयोग है। आत्मा किसी भी परिस्थितिमें, बाह्य साधनोंमें रहे, वह योग-उपयोगका ही कर्त्ता रह सकता है। उनमें योगसे तो आत्माको सुख दुखादिका अनुभव होता नहीं, इसलिए उससे आत्माका कोई सुधार बिगाड नहीं है। सुधार-बिगारके अन्तरग कारणका योग सहकारीमात्र होता है इसी लिए आचार्योंने विकल्पकी अपेक्षासे ही आत्माको कर्त्ता कहा है। समयसारमें कहा है —

विकल्पक पर कर्त्ता, विकल्प कर्म केवलम।
न जातु कर्तृ-कर्मत्व सविकल्पस्य नश्यति॥

अर्थात केवल, विकल्प करनेवालेको कर्त्ता कहा गया है और विकल्प केवल उसका कर्म है। जबतक यह विकल्प करता रहेगा, तबतक कर्तृत्व और कर्मत्व की बुद्धि नष्ट नहीं होसकती। और जबतक यह बुद्धि है, तभी तक ससार है और महान् क्लेश है।

देखो भैया, यहा द्रव्यहिंसा या बाह्य जीव घातादिको पाप नहीं कहाहै, किन्तु उसका मूल भूत जो अन्तरगका कलुषित विकल्पहै, जिसकी प्रेरणासे द्रव्य हिंसा हुई, वह विकल्प पाप कहागया है। इस कथनसे यह निष्कर्ष निकला कि यदि अन्तरगमें हिंसा है, या

हिंसाके भाव है, तो वाह्य हिंसा हिंसा है वह अंतरग घात अपनेही दोपसे होरहाहै, और उसकी निवृत्तिभी अपनेही गुणसे होगी समयसारमें कहा है– मोक्खपहे प्पाण ठवेहि तचेव झाहि तचेव । तत्थेय विहर णिच्च मा विहरसु अण्णदव्वेसु ॥४१२॥ आससारात्परद्रव्ये रागद्वेषादौ नित्यमेव स्वप्रज्ञादोषेणावतिष्ठमानमपि स्वप्रज्ञागुणेनैव ततो व्यावत्य दशनज्ञानचारित्रेषु नित्यमेवास्थापय निश्चलमात्मानम् ।

अर्थात् अनादि कालसे अपनी बुद्धिके दोपसे ही परद्रव्य रागद्वेषादिमें ठहरे हुए अपने आपको जो कि स्वरूपसे निश्चल है अपनी बुद्धिके गुणसे ही दोषोसे निकालकर दशन, ज्ञान, चरित्रमें निश्चलरूपसे ठहराओ।

प्रश्न–यदि हम लोग इसी ज्ञान–चारित्र में ही ठहरे रहे तो दुकानदारी या दुनियादारीके कामकैसे चलेंगे?

उत्तर–आपमें स्वय विकल्प होतेहैं, उससे आप दु खी ह । म करने वाला हू, यह बुद्धिही घातक है, बाह्यकायको हम क्या कर सकते हे ? उसके आश्रयसे केवल विकल्प ही उठते रहेगे । ज्ञान–चारित्रमें स्थिर रहनेवालोके यदि कदाचित् गृहस्थी है तो दुनियांदारी के काय स्वय ही चला करतेहैं, [illegible] मित्तिक भावका फल है ।

शुद्धोपयोग परिणत आत्माओंमे हिंसामात्रके दूर होनेकी बात कही थी। कोई चाहे कि बाह्य हिंसासे दूर रहकर अहिंसक बन जाऊ, सो सम्भव नहीं, क्योंकि हमारे सारे शरीरमें बादर निगोद एव अन्य अनेक प्रकारके जन्तु भरे हुए है, वे हमारे चलने-बढने, उठने फिरते या सोते आदिके समय अवश्य मरते है, फिर हिसा कहा दूर हुई ? फिर बताओ मोक्षमार्ग कैसे चले? सारा ससार जीवोंसे भरा पडा है, हमारे चलने फिरनेसे यहा तक कि सास लेनेतकसे भी जीवोंका घात निरन्तर होता रहता है, अत: फिर बताओ हम हिंसासे कैसे बचें ? इस प्रश्नको आगममें इस प्रकार पूछा गया है कि जले जन्तु स्थले जन्तुराकाशे जन्तुरेव च। जन्तुमालाकुले लोके कथं चरन् कोऽप्यमोक्ष्यत ॥ अर्थात् जलमें जीव है, स्थलमें जीव है, आकाशमें जीव भरे है, सारा लोक ही जन्तुओंकी मालाओं-श्रेणियों से सकुलित है, फिर साधु कहा चले, कहाँ उठे बैठे और कैसे मोक्ष प्राप्त करे ? इस प्रश्नका उत्तर यही दिया गया है कि विष्वग्जीवचिते लोके क्व चरन् कोऽप्यमोक्ष्यत। भावैकसाधनौ बन्धमोक्षौ चेन्नाभविष्यताम् ॥ अर्थात् बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था यदि एकमात्र भावोंपर अवलबित नहीं होती, तो फिर जीवोंका

खचाखच भरे इसलोकमें रहता हुआ कोई भी मनुष्य कभी मुक्त नहीं होसकता था।

इस उपयु क्त कथनसे यह बात बिल्कुल स्पष्ट होजाती है कि जो हिंसा बुद्धिपूवक होती है, जहा हमारे भाव जीवघातके होतेह, वही हिंसा है और उसीके हम भागी ह । जहा हमारे भाव किसी भी जीवको स्वयको या अ यको घातनेके नहीं हैा हम पूर्णरूपसे अप्रमत्त है, सावधान ह, जीव रक्षामें तत्पर या सयमोमें निरत ह वहा अबुद्धि पूवक होनेवाली हिंसाके हम दोषी नहीं होतेह । अबुद्धिपूवक और अज्ञानपूवक होनेवाली हिंसामें जमीन आसमानका अ तर है, जहा अबुद्धिपूवक होने वाली हिंसाका साधुको रचमात्रमी पाप नहीं लगता, वहा अज्ञानपूवक होनवाली हिंसासे उसे महापापी बतलाया है । यही कारणहे कि शास्त्रोमें साधुको एक विशेपण विदितजीवस्थानादि दिया गया है । प्रश्न—क्या हमारे अबुद्धिपूवक हिंसा नहीं होती ? उत्तर—प्रमत्तयोगियोके जो अजानकारीम हिसा होती है उसे अबुद्धिपूवक न कहकर अज्ञानपूर्वक कहागया है । किंतु अप्रमत्तयोगियोके अर्थात् शुद्धोपयोगियोके जो हिंसा होतीहै उसेही अबुद्धिपूवक माना गयाहै और उसके पापसे उसे अलिप्त कहा गयाहै । प्रमत्त योगियोके

अजानकारीमें होने वाली हिंसाको अज्ञानपूर्वक होनेवाली हिंसा माना गयाहै, और उसके महा पापसे हम सदा लिप्त होते रहतेहैं । हा ज्ञानी प्रमत्तमें कुछ अन्तर है । वास्तवमें हिंसा तो रागादिभाव स्वय है । ऊपर आचार्यने जो प्राणि सयम और इन्द्रिय सयम का निरूपण किया है उसमें भावोंके सभाल को—विकल्पोंसे छुटानेकी ही बात कही गई है वही सच्ची स्वदया है, यही सच्ची अहिंसाहै, और वही सत्याथ सयम है ।

बाह्य और अन्तरग बारह प्रकारके तपके बलसे स्वरूपमें विश्राम करना और सव प्रकारकी तरगोंको दूर कर निस्तरग चतन्य प्रकाशसे तपना देदीप्यमान होना सो तप है । जैसे समुद्रकी तरगें समुद्रमें लीन होतीहैं तथव आत्माकी तरगे आत्मामें ही विलीन हो जाती है । असयम अवस्थामें विषय रूप जो अन्यथा आचरणकी और नाना प्रकारके तज्जनित विकल्पोंकी तरगें उठा करतीथीं उन तरगोंका स्वात्मभावनामें परिणत होकर एकदम विलय कर देना और ज्ञान ज्योतिसे तपना प्रकाशमान रहना ही अध्यात्मभावमें तप मानागयाहै । बाह्य क्लेशके सहनेको तप नहीं माना गयाहै, क्योंकि उसे तो ससारके सभी प्राणी सहन करतेह पर उससे इष्ट सिद्धि नहीं होती । बाह्य

तप अतरगमें उठने वाले विकल्पोके शानमें सहायक वातावरणमात्र होतेह, अत उपचारसे उन्हें तप कहा गया है। वस्तुत चैत यवृत्तिही तपहै। प्रश्न—यदि अनशनादि परमार्थसे तप नहीं ह, तो उन्हे क्यो किया जाय ? इस प्रश्न का उत्तर पूज्यपाद आचार्य ने अपने समाधितत्रमें इस प्रकार दिया है—

अदु खभावित ज्ञान क्षीयते दु खसन्निधौ।
तस्माद्यथावल दु खैरात्मान भाययेन्मुनि ॥

अर्थात् जो ज्ञान अदु खभावित होताहै, बिना कष्ट सहन किये उत्पन्न होताहै, वह दु खके आने पर तुरन्त नष्ट होजाताहै। किन्तु जो ज्ञान दु ख भावित होताहै, वह महाकष्टोंके आनेपर भी क्षीण नहीं होता, सदा प्रकाशमान रहताहै। यदि साधु स्थायी, अविनाशी और अक्षय रहनेवाले ज्ञानको प्रप्त करना चाहतेहैं, तो उन्हें यथाबल अपनी शक्तिके अनुसार अपनेको दु खोसे भावित करना चाहिए, अर्थात् अनशनादि तपोको करके ज्ञान पूवक ज्ञानाभ्यास अन्तरग तप करना चाहिए तव जो ज्ञान प्राप्त होगा, वह अनन्तकालतक स्थयी रहेगा अर्थात् पूण बनकर पूर्ण ही रहता रहेगा।

शुद्धोपयोगमें परिणत वे आत्मा कैसेहैं ? तपस्वीहैं—तपका अर्थ है स्वरूपमें समाये हुए निस्तरग रागद्वे-

थादिरहित चैतन्यभावमें प्रतपन करना विजय पाना। इस प्रयोजनको लेकर जितने भी बाह्य साधन हैं उन्हे उपचारसे तप कहतेहैं तप बाह्य और आभ्यन्तर तपके बलसे काम क्रोध आदि शत्रुवोसे जिसका प्रताप परिणाम खण्डित नहीं होता ऐसे उन आत्माका निज शुद्ध आत्मामें-चैतन्य भावमें तपना अलौकिक विजय पाना तपहै उस कर युक्त है तन्मयहै। वे शुद्धोपयोगपरिणत आत्मा विगतरागहै-राग इनसे दूर होरहाहै यह राग आत्माकी स्वकीय परिणति नहीं है सहज परिणति नहीं है किन्तु वभाविक परिणति औपधिक परिणतिहै यह परिणति निमित्त विना नहीं होतीहै और निमित्तसे भी नहीं होती है। निमित्तको पाकर अपने द्रव्य-क्षेत्र भावके अशुद्ध परिणमनसे होतीहै। रागादिभावो मेंजो निमित्त पडताहै उसकी सज्ञा है 'कर्म', वे कर्म ८ होतेहै ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम गोत्र और अंतराय इनमें सबका प्रधान मोहनीय भावहै सब कर्मोके बंधका कारण मोहनीय कर्मके उदयमें होनेवाले भाव है, मोहनीय कर्मके नष्ट होनेपर सभी कर्म यथासमय नष्ट होजातेहै इसलिये मोहनीय कर्मके विपाक जो मोहराग द्वेष है उन औपाधिक अपवित्र क्षणिक भावोंसे निज ज्ञायक भावको-जो

सहज शुचि और स्थायी है-भिन्न पहिचाने और निज ज्ञायकभावको भावना स्थिरतापूर्वक करे तो इस अभिन्न प्रक्रियासे यथा निर्विकार आत्माका सहज स्वरूप है तथा प्रकट होताहै और वह आत्मा विगतराग कहलाताहै। यह विरागका विधिरूपसे वर्णनहै, विधिरूप तत्त्व समझमें न आनेपर निषेधका कोई महत्त्व नहींहै। यह विगतराग अवस्था कैसे होतीहै इसका उत्तर इसके पूर्वविशेषणसे मिलताहै अर्थात् अंतरंग संयम तपके बलसे यह विराग अवस्था प्रकट होतीहै। सारांश यह है कि वीतराग शुद्धात्माकी भावनाके बलसे समस्त रागादिदोषरहित होनेवाला आत्मा विगतराग है। रागरहित होनेकेलिये उपाय क्या है ? रागरहित पद्धतिसे रागरहितका लक्ष्यहोना रागरहित होनेका उपाय है। रागरहित पद्धति अखंड निर्मल अनादि अनंत ज्ञायक भावको अभेदरूपसे लक्ष्यमें लेनाहै। इस निज चैतन्य भगवान् के दर्शन प्रथमही प्रथम होते समय स्वभावविरोधक कर्मराजकी क्या परिस्थिति होतीहै इसका वर्णन अन्य प्रकरण पाकर करूंगा। पहिले मोह नष्ट होताहै पश्चात् राग द्वेष भी मूलसे नष्ट हो जातेहैं। ऐसा विगतराग शुद्धोपयोगसे परिणत आत्मा कैसा है सम्मुख दुःख यो सुखदुखमें समानहै-वास्तवमें

ं सुख दु खकी कल्पनासे हो दूरहै अर्थात् जसे
य होते हुए भी सुखकल्पनासे रहितहै, वैसे असाता
ाम उदयमें भी दुखको कल्पनासे रहितहै । सुख
दु ख पर्याय है ज्ञानी किसीभी पर्यायमें आत्मबुद्धि
करता फिर लौकिक सुख,दु ख जसे गदे विभावोंसे
रुचि प्रतीति लीनता करेगा । ये श्रमण समसुख
कैसे होतेहै ? इस पर विचार करना है ।
समता परिणाम विषमताके दूर हुए बिना प्रकट
होता । समता विषमता भो पर्याय है और ह
यो पर्याय विषमताके होनेपर समता नहीं और
ाके होने पर विषमता नहीं । जिसके सुख दु ख
त्पन्न हुई परिणामोकी विषमता है वह श्रमण नहीं
योगमें परिणत नहीं । ये सुख दु ख आत्माके सहज
नहीं । ये साता असाता वेदनीयके उदयमें मोह-
ी वासनासे होतेह । यह सुख दु खोकी विषमता
रमकला जो शुद्धज्ञान भावतत्त्व उसके अवलो-
अनुभवमें नहीं आती उस समय वह समसुख-
कहलाता है । उन शुद्धोपयोगपरिणत आत्मावों
ाता असाता वेदनीयजन्य सुख दु खके विभाव
ही हो परन्तु उनकी विषमताका, अनुभव ही नहीं
, क्योंकि विषमताका अनुभव मोहनीयके विपाक

से होता है सो मोहनीय क्षीण होरहाहै। विपमताके अनुभव बिना सुख दु ख सुख दुखही नहींहै नाम मात्रकेहै। इस प्रकार निर्विकल्प निर्विकार शुद्धात्मासे उपयोगरूप परम समाधिसे उत्पन्न हुई परमसुखमें लीन परमकला के बलसे इष्ट अनिष्ट इद्रिय मनके विषयोंमें हुप विषाद न रहनेसे स्वय समसुखदु ख होता हुआ श्रमण शुद्धोपयोग है। यहां श्रमण शुद्धोपयोग है, यह गुण गुणीके अभेद विवक्षाके वणन है। यद्यपि यहा श्रमण भी पर्याय है और शुद्धोपयोग भी पर्याय है तथापि शुद्धोपयोग तो गुणपर्याय ही है और श्रमण यहा आधार रूपसे विवक्षित है अत श्रमणको गुणीरूपसे कल्पित किया है। यहा भगवान् कु द कु द महाराजने कारण कायभावरूपसे पहिली परिस्थितिसे उठातेहुए उत्कृष्ट परिस्थितितकका वणन करते हुए आचार्यने शुद्धोपयोगमें परिणत आत्माके स्वरूपका वणन किया। वर्णन हीं नहीं किया किन्तु निरूपण ही करदिया। वणन तो विस्तार और स्पष्टरूपसे कहनेका नाम है, और निरूपण कहतेह नि-समस्तरूपसे रूपण कहिये देखना व दिखाना। जहा ऐसा वणन हो कि वक्ता और श्रोतावो को वाच्य अर्थका प्रतिभास होता जावे उस वणनको निरूपण कहतेहैं। यहातक १४ गाथावोका प्रकाश हुआ।

इस प्रवचनसार ग्रन्थमें जो कुछ वर्णनीय है वह उसका दिग्दर्शन इन १४ गाथावोंमें होचुका अत एव ये १४ गाथायें प्रवचनसारकी पीठिकास्वरूप हैं। प्रवचनसार तीन महाधिकारोंमें है। १ ज्ञानाधिकार, २ दर्शनाधिकार अथवा ज्ञेयाधिकार, ३ चारित्राधिकार, किन्तु प्रवचनसार समस्त एक अधिकारकी दृष्टिसे देखा जावे तो यह चारित्रका ग्रन्थहै। यद्यपि यह चारित्र का ग्रन्थ है तथापि अन्तरगदृष्टिसे चारित्रके वर्णनमें ज्ञान और ज्ञेयका यथार्थस्वरूप वर्णित होना आवश्यक ही है, जिसके विना अन्तरचरणका वर्णन हो ही नहीं सकता। इसकारण ज्ञान ज्ञेय चारित्र अथवा ज्ञान दर्शन चारित्रके अधिकार आना प्राकृतिक बात है। पीठिकास्वरूप इन १४ गाथावोंमें भी ज्ञान ज्ञेय चारित्रका दिग्दर्शन होचुका है। सब प्रथम तो पाच गाथावोंमें मगलाचरण किया गया इस मगलाचरणमें भो ज्ञान दर्शन चारित्रका प्रतिभास अवलोकन है और अन्तमें तो स्पष्ट कह ही दिया है कि पच परमेष्ठिदेवों के दर्शनज्ञान प्रधान भावाश्रमको प्राप्त करके समताको प्राप्त होताहू। मगलाचरणरूप पाच गाथावोंके अनन्तर तीन गाथावोंमें (६ ७ ८) चारित्र विषयक मुख्य प्रतिपादन किया। तदनन्तर एक गाथामें दर्शन अथवा

ज्ञेयविषयके प्रकृतप्रयोजन को लेकर शुभोपयोग अशुभोपयोग शुद्धोपयोगरूपसे सात तत्त्वोंका मर्म बताया। पुन द्रव्य गुण पर्याय अथवा उत्पादव्ययध्रौव्य के आशयको लेकर-जिनका कि ज्ञेय पदार्थके साथ अयुत सम्बन्ध है, दशवीं गाथामें विवेचन किया गया। तदनन्तर शुद्ध और शुभ परिणाम इन दोनोमें उपादेय शुद्ध है और शुभ हेय है इसका वर्णन फल प्रदर्शनकी मुख्यतासे किया है और १२ वीं गाथामें अशुभोपयोग तो प्रथमत ही अत्यन्त हेय उसका फल दिखाते हुए कहा है। तदनन्तर तेरहवीं गाथामें शुद्धोपयोगके फलस्वरूप सहज ही विकसित होनेवाले शाश्वत पूर्ण आह्लादमय निराबाध अनुपम परम सुखको दिखायाहै, फिर १४ वीं गाथामें तो सब प्रक्रियाकी विवेचना है-आत्मा कैसे शुद्धोपयोगका पात्र होताहै कैसे शुद्धोपयोगमें प्रवेश करता है और शुद्धोपयोगका अधिकारी होताहै ? शुद्धोपयोगका पूर्ण अधिकार होनेपर अथवा शुद्धोपयोगमें परिणत होनेपर उस आदर्श आत्माका क्या स्वरूप बनताहै इसका साक्षात्कार कराया गया।

आज हमलोग बडे ही पुण्यस्वरूप होरहेह कि भगवान कुन्द कुन्द द्वारा लिखित सारभूत तत्त्वोंका

मनन और अनुपालन करनेकी हमें पात्रता प्राप्त हुई है। यह हमारा मनुष्यकाल अनादि-अनतकालके समक्ष क्या है कितना है ? अन तकाल परिभ्रमण करते हुए आज मनुष्यभवमें तत्त्वचिन्तना व यथाशक्ति सयम पालनेका अवसर मिला है तो विचारो यह कितना अमूल्य अवसर है ? ३४३ घनराजू प्रमाण लोकक्षेत्रमें प्रति प्रदेशमें अन तबार ज म लेलेकर दु ख भोगे और आज इस बुद्धिसहित भगवान महावीर स्वामीके तीर्थकालमें श्री कु दकु दाचायके पवित्र वाक्योका मनन कर रहेहैं तो आप सोचिये कितना अपूव अमूल्य अवसर है । हमें अपने आपकी आत्माका कल्याण करलेनेका अवसर नहीं चूकना चाहिये । हमपर निरपेक्ष इन साधुसतोका कितना उपकार है जिसका कुछ वणन ही नहीं हो सक्ता । हे कुन्ददेव! हे अमृतच द प्रभो ? हे जयसेन महाराज ! हे सम तभद्र योगिराज ! म तुम्हारे समयमें तुम्हारे परिचयमें रहा होता तो चरणोमें लोटकर भक्तिके आसुवोसे चरण पखाल देता। धन्य हो देव भक्तिभाव सहित आपको मेरा नमस्कार हो ।

हे आत्मन् ! पथ तो जाना, तब कर्तव्यहै–कि व्यवहारनयसे निश्चयनयके विषयभूत अखड स्वभावके समीप पहुचकर निश्चयनयके अवलम्बनसे ऐसी उपा-

सना करो कि सवनय पक्ष छूटकर केवल-समस्त सकल्पविकल्प जालसे रहित शुद्ध चैतन्यमात्र अनुभवन रहे।

❀ ॐ शान्ति ❀

इति अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्रीमत्सहजानद महाराज द्वारा जयपुरमें प्रवचन किये गये प्रवचनसार प्रवचनमें पीठिकाधिकार समाप्त हुआ।

"वास्तविकता" (REALITY)

१—१०४२ जगतमें अनन्त आत्मा है और उससे अनन्त गुणे जड परमाणु है।

२—१०४३ वे सभी आत्मा व सभी अणु अनादि कालसे हैं अनन्तकाल तक रहेंगे।

३—१०४४ प्रत्येक आत्मा, प्रत्येक अणु अपने आप सत् हैं किसीकी कृपा या असरसे नहीं।

४—१०४५ प्रत्येक पदार्थ अपनी अपनी परिणतिसे ही परिणमते है, दूसरोकी परिणतिसे नहीं।

५—१०४६ आत्माकी दो अवस्थाए होती हैं, पहली अशुद्धावस्था, दूसरी शुद्धावस्था।

६—१०४७ जहा आत्माके परमें आत्मबुद्धि है, अपनी या परकी पर्यायमें रुचि है, वह उसकी अशुद्धावस्था है।

७—१०४८ जब आत्मा सकल्प विकल्पसे रहित हो जाता है ज्ञाता मात्र रहता है वह उसकी शुद्धावस्था है।

८—१०४९ प्रत्येक आत्मा व अणु परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं। किसीके स्वरूपमें किसीका प्रवेश नहीं है।

९--१०५० शरीर और आत्माका सम्पक होते हुये पशु, पक्षी, मनुष्यादिके रूपमें होना अज्ञान दशाका फल है।

१०—१९५१ अणुओंका काठ, पत्थर, ईंट, लोहा, सोना, चांदी, शरीर, आदि स्कधरूपमें होना उनकी विकार परिणतिका फल है।

११-१०५२ आत्मा निर्विकार होकर फिर कभी विकारी नहीं होता। परन्तु अणु निर्विकार होकर भी विकृत हो सकता।

१२-१०५३ आत्माके विकारका करण पूर्व विकार है, अणुके विकारका कारण अणुके स्निग्ध रुक्ष गुणका परिणमन है।

१३-१०५४ किसी भी आत्मा या स्कधके साथ अपना समवाय समझना अज्ञान है, दुखका कारण है।

१४-१०५५ आत्मामें उठने वाली राग इत्यादि तरगें स्वभावसे नहीं है, इसीलिये नाशवान ह व दुख स्वरूप है।

१५-१०५६ पदार्थ सामान्यविशेषात्मक ह, जिसमें सामान्यअश तो जध्रुव है, विशेप अश अध्रुव है।

१६-१०५७ द्रव्यके त्रैकालिक, एकाकार (अखण्ड)

स्वभावको 'सामान्य' कहते हैं, और उसकी प्रति समयकी अवस्थाओं को विशेष कहते हैं।

१७–१०५८ "सामान्यकी दृष्टिमें विकल्प नहीं, विशेषकी दृष्टिमें नाना विकल्प है।"

१८–१०५९ जीवके गुणोंका सामान्य स्वभावके अनुकूल विशेष (अवस्था) होना मोक्ष है, मुक्तात्माओंमें इसी कारण परस्पर विलक्षणता नहीं होती।

१९–१०६० मुक्तात्मा पूर्ण समान है पूर्ण सवज्ञ है; जिनकी सत्य उपासना होनेपर उपासकके उपयोगमें कोई व्यक्ति नहीं रहता।

२०–१०६१ जिस भावमें व्यक्ति नहीं उस भावमें परमात्मा एक है, वह भाव है–शुद्ध चैतन्य भाव।

२१–१०६२ कोई भी आत्मा परमात्मा होकर शुद्ध चैतन्य भाव रूप ब्रह्ममें मग्न हो जाना, उससे विपरीतसत्तावाला नहीं रहना।

२२–१०६३ यही एक सत्य है, यही कल्याण है, यही "ओ३म् तत् सत्", यही "सत चित आनन्द" यही "सत्य शिव सुन्दर" है।

हितार्थ गृहस्थों के कर्तव्य

१ ओ३म् सिद्धेभ्य, शुद्धचिद्रूपोऽहं, ओ३म् आदि मन्त्रोंका प्रात साय जाप करें।

२ प्रति दिन सबसे पहिले अनन्तज्ञानमय

भक्ति व पूजा करें ।

३ नियमित मनन पूर्वक स्वाध्याय व समझने योग्य स्थल नोट करलें ।

४ दशलक्षण पर्व अष्टह्निका, प्रत्येक अष्टमी चतुर्दशीको पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करें ।

५ पर्वातिरिक्त दिनों में भी अधिकसे अधिक ब्रह्मचर्य का पालन करें ।

६ स्त्रीके गर्भ रहने के बाद दंपति २-३ वर्षका बच्चा होने तक ब्रह्मचर्यसे रहें ।

७ सात व्यसनोंका पूर्ण रूपसे त्याग रखें ।

८ छने हुये जलसे बना हुआ शुद्ध भोजन करें ।

९ रात्रिभोजन व रातको तयार किये हुए भोजनका त्याग करें ।

१० सात्विक रहन सहन भोजन आदि अपने संयमका लक्ष्य रखें ।

११ अधिक समय सत्संगमें धर्मध्यानसे बितावें ।

१२ साधु व्रती पुरुषोंका यथायोग्य वैयावृत्य करते रहें ।

१३ यथा शक्ति आहार औषधि शास्त्र अभय चारों दानकी प्रवृत्ति रखें ।

१४ सदा सबका भला विचारें, किसीकी निन्दा न करें, दुःखियोंकी योग्य सेवा करें ।

१५ अपने अकेलेपनका व ज्ञानस्वभावका बार बार ध्यान करते रहें।

अपनी बातचीत

अयि आत्मन् ! तू क्या है ? विचार ! ज्ञानमय पदार्थ !! तेरा इन दृश्योके साथ क्या कोई सम्बन्ध है यथार्थ ? नहीं, नहीं, कुछ भी सम्बन्ध नहीं ! क्यो नहीं ? यो कि "कोई किसीका कुछ भी परिणमन कर नहीं सकता"।

म ज्ञानमय आत्मा हू, हू, स्वय हू, इसीलिये अनादिसे हू म किसी दिन हुआ होऊ पहिले न था यह बात नहीं है। न था तो फिर हो भी नहीं सकता।

फिर ध्यान दे इस नर जन्मसे पहिले तू था ही ! क्या था ? अनतकाल तो निगोदिया था। वहा क्या बीती ? एक सेकिण्डमें २३ बार पदा हुआ और मरा। जीभ, नाक, आख, कान, मन तो था ही नहीं और था शरीर। इनकी ओरसे देखो तो जडसा रहा, महासक्लेश ! न कुछसे बुरी दशा। सुयोग हुआ तब उस दुदशासे निकला।

पृथ्वी हुवा तो खोदा गया, कूटा गया, ताडा गया, सुरगसे फोडा गया।

जल भी तो तू हुआ, तब औटाया गया, बिलोरा

गया, गम आगपर डाला गया।

अग्नि हुआ, तब पानीसे, राखसे, धूलसे, बुझाया गया, खुदेरा गया।

वायु हुआ, तब पखोसे, बिजलियो से ताडा गया, रबर आदिमें रोका गया।

पेड, फल, पत्र जब हुआ, तब * काटा छेदा, भूना, सुखाया गया।

कीडे भी तुम्हीं बने और मच्छर, मयखी, बिच्छ आदि भी। बताओ कौन रक्षा कर सका ? रक्षा तो दूर रही, दवाइया डाल डाल कर मारा गया, पत्थरोंसे, जूतोंसे, खुरोसे दबोचा व मारा गया।

बैल, घोडे, कुत्ते आदि भी तो तू हुआ। कैसे दु ख भोगे ? भूखे प्यासे रहे, ठडो मरे, गर्मियो मरे, ऊपरसे चाबुक लगे, मारे गये।

शूकर मारे जाते है चलते फिरतोको छुरी भोंक कर। कहीं तो जिन्दा ही आगमें भूने जाते है।

यह दूसरोकी कथा नहीं, तेरी है। यह दशा क्यों हुई ? मोह बढाये, कषायकिये, खाने, पीने विषयोंकी धुन रहीं, नाना कर्म बाधे, मिथ्यात्व अन्याय, अभक्ष्यसेवन किये। बडी कठिनाईसे यह मनुष्यजन्म मिला तब यहा भी मोहराग द्वेष विषय कषाय

—— रही। तब जैसे मनुष्य हुए, न हुए